मूल्य	:	दो रुपये
प्रथम संस्करण	:	सितम्बर, १९६०
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	युगान्तर प्रेस, दिल्ली

कविताओं का क्रम

[प्रस्तुत संकलन में पंत जी की 'ग्रंथि', 'रजत शिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' छोड़कर शेष सब मौलिक रचनाओं से कविताएं दी गई हैं। कथा-काव्य और रू से लिए गए उद्धरण संदर्भ के अभाव में पूर्ण अर्थ नहीं दे सकते थे। —स

प्रवेशिका

खड़ी बोली हिंदी कविता की लगभग तीन-चौथाई शताब्दी की उपलब्धियों पर जब मैं विहंगम-दृष्टि डालता हूँ तब वे मुझे अपने ही देश के उत्तराखंड मे फैली विस्तृत पर्वतमाला के रूप मे दिखलाई पड़ती हैं। तो आइए देखिए कुछ ऊँचाई पर, वह लंबा-चौड़ा पठार, बड़ी ही विशालकाय, सुदृढ़ और सुगठित चट्टानों पर फैला, प्रायः समतल, निर्मल-शांत जल-स्रोतों से अभिसिंचित; यह कँकरीला-पथरीला भी है और इसपर उपजाऊ जमीन भी बहुत है; इसपर झाड़-झंखाड़ के जाल भी है और छायादार-फलदार वृक्षों की क़तारे भी। प्रकृति ने जैसे अपने विविध विरोधों के बीच यहाँ संतुलन प्राप्त किया है, न यहाँ बहुत गर्मी पड़ती है न बहुत सर्दी, न इतना ज्यादा पानी बरसता है कि बाढ़ आ जाय, न इतना कम कि सूखा पड़ जाय, न ऐसा तूफ़ान आता है कि बनों को झकभोर डाले, न ऐसी निस्तब्धता छाती है कि पत्ता भी न डोले। इसके वातावरण में जीवन-स्वीकृति की गूंज है, आस्था की सुगंधि है, शांति की स्निग्धता है।

और उससे पूर्व दिशा की ओर देखिए वह आग-भरा, राग-भरा, झाग-भरा निर्झर जो अनेक शैल-सोपानों पर उतरता,

दिशाएँ बदलता, एक ऐसे शिलाखंड से टकरा गया है जिसने उसकी धार को बीच से चीर दिया है; एक इन नील कुसुम की घाटियों की ओर चली गई है और दूसरी उन चौरस मैदानों की ओर जिनपर सदियाँ अपनी सभ्यता और संस्कृति के अध्याय अंकित करती है।

अब घाटियों की ओर आ ही गए है तो देखिए वह सँकरी चिर-कुमारी घाटी भी जो फूल-कलियों से पटी तो है पर उसमे मधुप-भीर का गुंजन नही है, जिसमे आम्रवन तो है पर प्राणपिक की उल्लासमयी कुहुक नही है; केवल स्वर-प्रकंपित चिर-पिपासित चातकी, प्रकृति के वक्ष की धड़कन बनी-सी 'पी-कहाँ-पी-कहाँ' पुकार रही है; और बीचोबीच मे एक पतली, शुभ्र-जल स्रोतस्विनी बह रही है, जैसे आकाश की कोई नीहारिका पृथ्वी की हरीतिमा पर लेट गई हो, अनवरत आँसुओं की धारा बहाती, जो मंद गति से आगे बढ़ती, थकती, शिथिल होती मन:शांति पाने की आशा से ऋषियों-मनीषियो के एक सप्तपर्णी आश्रम की परिक्रमा करने लगी है।

और उधर देखिए अनेक छोटी-बड़ी चोटियों पर उठते तीन विशद, हिमाच्छादित, उत्तुंग शिखर!

एक, जैसे जीवन के बड़े विस्तृत धरातल को घेरकर धीरे-धीरे उठा है, जैसे उसने हर उठान पर ठहरकर सुस्थिर मन से, अपलक नयन से, देश और काल को अवगाहा है, फिर और ऊपर उठा है, पर उसकी दृष्टि सदा नीचे की ओर रही है। उसके शीर्ष पर मुकुट की तरह कामायनी देवी का मंदिर है।

दूसरा धरा के वक्षस्थल को फोड़कर, अधर मे उठता,

बादलों को भेदता, अंबर को चुनौती देता-सा लग रहा है। इसके पाँवों मे आँधियाँ लोटती है, छाती मे बिजली कौंधती है। इसपर वृक्ष है, वल्लरियां है—इसकी रोमराजि है; इसपर ताल-तलैये है, झरने हैं, इसके श्रमकण है, पसीने की धारें है; इसके व्यक्तित्व की विराटता मे सब खो गए है, सब डूब गए है। इसकी चोटी पर उस परा शक्ति का स्थान है जिसकी राम ने पूजा की थी।

तीसरा जैसे अपनी निचली ढलानों पर मलय-झकोरों से उच्छ्वसित, प्रपातो से प्रतिध्वनित, पल्लवों से मर्मरित, विहगों से कूजित, भ्रमरो से गुंजित, प्रकृति की गोदी मे खेलने के लिए आया था, पर बिचली ढलानों पर गंभीर हो गया है; देखिए उसकी शुष्क, नीरस, ठोस, ज्ञान-गर्वित चट्टानों पर चट्टानें—मरुथल के बीच ओएसिस-सा थोड़ी-सी उर्वर भूमि पाकर एक ग्राम भी बसा है। अपने ऊपर के उभारो मे यह नील गगन, नील सघन, नील गहन, सूक्ष्म नील, नीलिमा, अतिमा मे चढ़ता चला गया है और इसपर रजत ही रजत, सुवर्ण ही सुवर्ण उतरता चला आया है। पर जहाँ इसकी पारदर्शी दृष्टि उच्चातिउच्च आकाशों की आभा-विभा से ज्योतिर्मय है, वही यह निम्नातिनिम्न गह्वरों की कालिमा और तमिस्रा से भी प्रतिच्छायित है और जैसे दोनों को मिलाने के लिए अपनी पलकों पर एक इंद्रधनुषी स्वप्नो का सेतु रच रहा है।

इन तीनों शिखरों मे बड़ा-छोटा बताने का दुःसाहस कौन करेगा?

'को बड़ छोट कहत अपराधू
सुनि गुन भेद समुझिहहि साधू।'

इस विस्तृत पर्वतमाला में कितने ही और पठार हैं, निर्झर है, घाटियाँ हैं, चोटियाँ है, खाइयाँ हैं; तराइयों में कितने घने वन है; आगे के प्रसारों में कितने खेत हैं, बाग़ है, मधुवन हैं जिनमें कितने ही मुखर जीव हैं, विहंग हैं, भ्रमर हैं। हिंदी का काव्य-संसार कितना संपन्न है, समृद्ध-संकुल है!

क्या अब यह बताने की आवश्यकता रह गई है कि उपर्युक्त पठार मैथिलीशरण गुप्त है, निर्झर दिनकर है, घाटी महादेवी हैं और तीन शिखर हैं प्रसाद, निराला और पंत!

इसी परिवेश मे हमे श्री सुमित्रानंदन पंत और उनके कृतित्व को देखना चाहिए। प्रतिभा को किसी भी क्षेत्र में उसके समय और समकालीनों से अलग करके देखना ग़लत है। संस्कृति, कला, साहित्य एवं काव्य का क्षेत्र विशृंखल से विशृंखल परिस्थिति मे भी इतना अंतर्संगठित होता है कि उसमे किसी सर्जक, साहित्यकार, कलाकार अथवा कवि को अलग इकाई मानकर देखना उसके रूप को विकृत करना है। इस संक्षिप्त परिचय मे समकालीनों की इतनी चर्चा भी अपर्याप्त न समझी जानी चाहिए। अब कुछ समय के संबंध मे। जातियाँ जब पतन की ओर जाती हैं तब उनके कंठों का स्वर सूख जाता है और जब उत्थान की ओर चलती हैं तो उनके कंठों से पुकार उठती है। १९वीं सदी के उत्तरार्ध में राष्ट्रभाषा का जो आंदोलन आरंभ हुआ वह भारत के पुनर्जागरण का शंखनाद था। इस देश की खंडित इकाई को सदियों की ठोकरें खाने के बाद वह मूल मंत्र

मिल गया था जिससे उसकी एकता एक बार फिर स्थापित हो सकती थी, उसकी गुलामी कट सकती थी, उसकी उन्नति हो सकती थी। भारतेंदु ने घोषित किया—

'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।'

इसके साथ ही देश में समाज-सुधार के आंदोलन भी शुरू हुए, समाज-सुधार की संस्थाएं भी बनीं पर हिंदी-प्रचार के लिए जितनी संस्थाएँ, समितियाँ, सभाएँ बनी शायद उनकी संख्या कहीं अधिक होगी। साधक, प्रचारक, व्याख्यानदाता देश के एक कोने से दूसरे कोने तक हिंदी का प्रचार करते घूमने लगे। नया साहित्य तो बहुत नही था, पुराने के ही प्रकाशन, पठन-पाठन, स्वाध्याय, चर्चा की प्रथा चल पड़ी। इसका महत्त्व-पूर्ण परिणाम यह हुआ कि बीसवी सदी मे जो विचार-भाव-धाराएं पश्चिम से आ रही थी और जो मनन-चिंतन पूर्व की मनीषा स्वयं कर रही थी उन्हे ग्रहण करने और अभिव्यक्ति देने की क्षमता हिंदी मे आ गई। अगर किसी दैव दुर्विपाक से हमने ऐसा निर्णय किया होता कि देश मे राष्ट्रभाषा का प्रचार हम स्वतंत्रता मिलने के बाद कर लेंगे, तो पहले तो शायद हमे स्वतंत्रता इतनी जल्दी मिलती न, और मिल भी जाती तो हमारा भाषा-दैन्य हमे अंग्रेजी की मानसिक दासता स्वीकार करने को बाध्य कर देता। हिंदी से अभिदीक्षित हमारे भाव-प्रवण और विचार-प्रबुद्ध कवियों ने जो हमे दिया है उसमे आधुनिक विश्व मे जाग्रत भारत का प्रतिबिम्ब ही नही, भविष्य मे आने-वाले मानव-समाज की छायाएँ भी हैं। उसमे आधुनिक युग की जटिल समस्याओं का संघर्ष ही नही प्रतिध्वनित होता, आगामी

के नैसर्गिक छायापदों की आहट भी सुनाई देती है। कैसा था हिंदी का वह अदम्य आत्मविश्वास जिससे उसने बीसवी सदी के प्रथम चतुर्थांश मे ही अपने नवयुवक कवि-कवयित्रियों को जग-जीवन की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल-से-स्थूल समस्याओं से जूझने और उनको कलाभिव्यक्ति देने को खड़ा कर दिया! हमे यह न भूलना चाहिए कि उसके इस आत्मविश्वास को सुदृढ़ और व्यापक बनाने मे उसकी दो मान्यताओं ने उसे बहुत बड़ा बल दिया है—एक तो यह कि हिंदी ने अपने को नव-जागरण की वाणी समझा है, और दूसरे यह कि वह किसी प्रांत की सीमाओं से नही बोल रही है, बल्कि वह समस्त राष्ट्र की उसाँस है, आवाज है, पुकार है, हुंकार हैं; वह हिमाद्रि के शृंगों से बोलती है, गंगा की तरंगों से बोलती है, हिंद महासागर की उमगों से बोलती है।

हिंदी की ओर से इस दायित्व को उठानेवालों मे श्री सुमित्रानंदन पंत का नाम बड़े सम्मान और प्यार से लिया जाता है। प्रकृति, मानव-समाज—व्यक्ति और समष्टि और अध्यात्म मे जो कुछ सुंदर है, पवित्र है, कल्याणकारी है, उसे देखने, खोजने, अनुभव करने और उसे वाणी देने के लिए उन्होने अपने जीवन भर साधना की है। उन्होने अपनी रचनाओ से हमारी रुचि को सँवारा है, हमारे विचारों को सुलझाया है और हमारी चेतना को परिष्कृत किया है। यह ठीक है कि आज हमारे जीवन मे संघर्ष है, हम अपनी आँखो के सामने देखते हैं कि दैवी विभूतियाँ पराजित हो रही हैं और दानवी शक्तियाँ सिर उठा रही हैं, हमे अक्सर संदेह होता है कि क्या मानव-जीवन

का भविष्य अधकारमय है, परंतु पंत जी को इस वात का दृढ़ विश्वास है कि संघर्ष शांत होंगे, पृथ्वी पर स्वर्ग उतरेगा और मनुष्य देवता बनकर विचरेगा। उनकी आस्था है कि लीलामय ने इसी महत उद्देश्य से यह पृथ्वी वनाई है, वही उसे उस ओर ले जा रहे है, मानवो को उनके संकेतों को समझना है, उस ओर वढ़ने का प्रयत्न करना है, साधना करनी है, साधना का आनद जानना है। तव लक्ष्य की प्राप्ति ही नही, यात्रा भी सुखमय, सारमय और कल्याणमय प्रतीत होगी। नवी के-से स्वर मे बोलनेवाला हमारा यह कवि आज का वड़ा ही मनोज्ञ स्वप्नद्रष्टा, वड़ा ही आशावादी गायक और वडा ही आस्थावान् व्यक्ति है।

'दीक्षा लो, हे दीक्षा,
कवि, द्रष्टा, भावक से'
(वाणी)

श्री सुमित्रानदन पंत का जन्म २० मई सन् १६०० का अल्मोड़ा जिले के कौसानी नामक स्थान मे हुआ था। उनके पिता श्री गंगादत्त पंत कौसानी की एक चाय-रियासत के प्रवंधक थे। पत जी चाय के वडे प्रेमी है, अक्सर कहते है "चाय मुझे प्रिय क्यों न हो, मेरा तो जन्म ही चाय के वाग मे हुआ था।" पत जी की माता का देहावसान उनके जन्म के कुछ ही घंटे वाद हो गया था। चार भाइयो, चार वहनों मे वे सवसे छोटे थे और उनका लडकपन अपने भाइयो, भाभियों और वहनों के

साथ बीता। उनका नाम गोसाईं[1] दत्त पंत रखा गया था, जिसे उन्होंने स्वयं बदलकर सुमित्रानंदन पंत कर लिया।

कौसानी मे और कौसानी के चारों ओर प्रकृति का पर्वतीय सौंदर्य बिखरा हुआ था। साथ ही उस सौंदर्य मे एक प्रकार की तपोद्भूत पावनता भी थी। इस सुंदरता और पावनता को पंत जी के भावुक हृदय ने जी भर पिया। बचपन के संस्कारों का प्रभाव बड़ा ही स्थायी और प्रबल होता है। पंत जी ने समाज और जीवन के अनुभवों से, साहित्य और दर्शन के स्वाध्याय से, राजों और संतों के संपर्क से बहुत कुछ सीखा है, समझा है, सँजोया है, पर आज भी यदि उनकी काव्य-कृतियों को देखकर निर्णय किया जाए तो कहना होगा कि जो दान उन्हे प्रकृति से मिला था वह सबसे अधिक है। उन्होंने प्रकृति का सौंदर्य बखाना है, मानव-समाज की समस्याओं को भी जब कविता का विषय बनाया है तब प्रकृति के उपादानों से काम लिया है, और अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने के लिए भी वे अपने ६६ प्रतिशत प्रतीक प्रकृति से ही लेते हैं। अपनी पिछली योरोप-यात्रा में इटली के एक अजायबघर में मुझे एक ऐसे धनी रईस का तश्तरी-प्याला दिखलाया गया जो अपने मित्रों-संबंधियों के यहाँ भोजन-पान का निमंत्रण तो स्वीकार करता था, पर शर्त उसकी यह होती थी कि वह खाएगा अपनी तश्तरी मे और पिएगा अपने प्याले से। कहते है कि यह तश्तरी-

---

१. श्रीमती महादेवी वर्मा ने 'पथ के साथी' (भारती भंडार, प्रयाग, संवत् २०१३ पृ० ८५) मे यह नाम 'गोपाल दत्त' बताया है, जो ग़लत है।

प्याला किसी ऐसे पत्थर के बने हुए हैं कि अगर खाने या पीने की चीज़ में विष मिला हो तो उनमे कुछ ऐसे चिह्न प्रकट हो जाते हैं कि इसका पता दे दें। पंत जी के साथ बात कुछ उल्टी है। वे अपने काव्य का खाद्य, मधु, पानी, कुछ भी आपके सामने परोसें, वे रक्खेंगे उसे प्रकृति की तश्तरी मे, प्रकृति के प्याले में। उनके साथ तो विष देने की बात ही नही उठती, पर शायद उनका विश्वास है कि सामर्थ्य, साधन की त्रुटि अथवा अपूर्णता के कारण यदि काव्य-भोज्य दुःस्वादु अथवा अनाकर्षक भी हो तो वह प्रकृति के पात्रों मे सुस्वादु तथा अमृतमय हो जाएगा। प्रकृति के रंग मे ऐसा भीगा, डूबा, शराबोर मैं दूसरा नही जानता।

पंत जी की प्रारंभिक शिक्षा अल्मोड़ा नगर मे हुई जो उन दिनों राष्ट्रभाषा आंदोलन से अनुप्राणित था। पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त हिंदी साहित्य के स्वाध्याय की ओर उनकी रुचि बढ़ी। घर पर सबसे बड़े भाई इसी आंदोलन से प्रभावित हो हिंदी के प्रेमी बन चुके थे और जब-तब हिंदी मे कविता भी लिखते थे। सत्साहित्य में रस लेने और काव्य-सृजन करने की प्रथम प्रेरणा पंत जी को अपने बड़े भाई से ही मिली। यह वह समय था जब श्री मैथिलीशरण गुप्त की प्रारंभिक रचनाएँ 'सरस्वती' मे प्रकाशित हो रही थी। पंत जी ने उनका अनुकरण करना आरंभ किया।

'शैशव ही से रहा आपके प्रति आकर्षण
ललित भणिति का किया प्रीतिवश चपल अनुकरण।'

(स्वर्ण किरण)

इस साहित्यिक सुरुचि और स्वाध्याय के फलस्वरूप पंत जी

की शब्द-शक्ति बहुत बढ़ गई। इनके सहपाठी इन्हें 'शब्दों की मशीन' कहा करते थे। समय के साथ यह शब्द-शक्ति और बढ़ी है, और सपन्न हुई है। उनकी कविता की भावभूमि विविध और विस्तृत है, परंतु कही भी उनकी शब्द-शक्ति अक्षम अथवा असमर्थ नही सिद्ध होती। वे अपने शब्दों से जिस विषय पर चाहे बोलवा सकते है, जिस भावना-विचार को व्यक्त करना चाहे करा सकते है। उनकी इस शब्द-शक्ति से लोग पहले घबराए भी है, शायद आज भी घबराते है। वे अपनी बात तो कह डालते है, पर लोगों के पास इतना शब्द-भंडार कहाँ कि उसको समझ सके। थोड़े शब्दों मे, लोगों का कहना है कि पंत जी की भाषा कठिन है, अप्रचलित है, बोलचाल की नही है। मै उनकी कठिनता को सरल नही कर सकता, पर कठिनता के कारणों पर प्रकाश डाल सकता हूँ जिससे उसके प्रति आप अधिक सहिष्णु बन सके, और इतना करने से भी कठिनता का आवरण बहुत कुछ झीना हो सकता है।

शब्द और मुहावरे जहाँ अभिव्यक्ति के साधन है वहाँ अभिव्यक्ति के बंधन भी है। जब भाषा में लीकें पड़ जाती है तो भाव-विचार भी उन्हींमें पड़कर घूमने लगते है। उर्दू और व्रजभाषा की बहुत-सी कविता उदाहरण की तरह पेश की जा सकती है। व्रजभाषा की कविता जहाँ 'कूलन में केलिन मे कछारन मे कुंजन मे' चक्कर देने लगती है, वहाँ उर्दू कविता घूम-फिरकर मैखाना व पैमाना से जा टकराती है। गालिब ने जो बात शायद भाषा के इस जड़ हठ पर झुँझलाकर लिखी थी, उसे यार लोगों ने सिद्धांत का सूत्र बना लिया—

'बनती नही है साग़रो मीना कहे बगैर ।'

खड़ी बोली हिंदी का जन्म ही नवजागरण युग मे हुआ था, नई भावभूमियों को खोजने के लिए, नए क्षितिजों का अनुसंधान करने के लिए, नई जीवन-चेतना को मुखरित करने के लिए ।

'एक महत भापा पुकारती जन-जीवन से,
जड़ चेतन से ।'
(वाणी)

हिंदी ने पंत जी के माध्यम से युग की बहुमुखी नवीनता की माँग पूरी की है, उसके मुख मे जीभ रक्खी है। पत जी की अभिव्यंजना-शक्ति और प्रयास से हिंदी कितनी सक्षम हुई है इसका अनुमान तो किसी दिन भापाविद् ही लगा सकेंगे। इस अनिवार्य और आवश्यक नवीन से परिचित होने के लिए हमे कुछ अपरिचित, अप्रचलित, क्लिप्ट के प्रति ग्रहणशील बनना होगा।

पंद्रह वर्प की अवस्था में पंत जी ने 'हार' नामक एक उपन्यास लिख डाला जो ४५ वर्ष बाद उनकी सर्वप्रथम रचना के रूप मे शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है।

सत्रह-अठारह वर्प की अवस्था मे वे अपने भाई के साथ अल्मोडा से बनारस आए और वहाँ के जयनारायण हाई स्कूल से सन् १६१६ मे उन्होने स्कूल लीविंग की परीक्षा पास की। यहीं पहले-पहल किसी बंगाली मित्र के द्वारा उनका परिचय रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं से हुआ और उन्होंने बँगला भी सीखी।

सन् १६१६ मे पंत जी प्रयाग आए, म्योर सेंट्रल कालेज में

एफ० ए० में भर्ती हुए और हिंदू बोर्डिंग हाउस में रहने लगे। अभी एफ० ए० का इम्तहान भी न दे पाए थे कि १९२१ के असहयोग आंदोलन मे उन्हें कालेज छोड़ देना पड़ा। रवीन्द्र-नाथ ठाकुर अपना भाग्य सराहा करते थे कि मै युनिवर्सिटी-शिक्षा से वच गया। पंत जी को भी कालेज छोड़ना सौभाग्य-प्रद ही सिद्ध हुआ। कालेज की जड़, नियमबद्ध पढ़ाई से मुक्ति पाकर उन्होंने स्वच्छंद रीति से अपने को शिक्षित करना आरंभ किया। अपनी विचित्र वेश-भूषा, लंबे बाल, सुंदर मुख-मुद्रा, यदाकदा काव्य-पाठ के कारण प्रयाग में आते ही वे कवि समझे जाने लगे थे; अव वे पूर्णरूपेण कवि हो गए। १९१९ से '२९ तक पंत जी मुख्यतया प्रयाग में ही रहे। यहाँ उनकी मैत्री तीन विशिष्ट व्यक्तियो से हुई—प्रो० शिवाधार पांडे से, कविवर श्रीधर पाठक से और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी से। इनकी मित्रता पंत जी के काव्य-जीवन के विकास में बहुत सहायक सिद्ध हुई। पाडे जी ने पंत जी की रुचि उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी रोमानी कवियों—कीट्स, शेली, वड्र्सवर्थ, टेनिसन आदि मे जगाई जिनसे उन्होंने अपनी काव्यकला के लिए बहुत कुछ सीखा। पंत जी की 'उच्छ्वास' नाम्नी पुस्तिका १९२२ मे प्रकाशित हुई तो पाडे जी ने ही उनपर 'सरस्वती' में सर्व-प्रथम आलोचनात्मक लेख लिखा जिसमे उन्होंने पंत जी के रचना-सौष्ठव की भूरि-भूरि प्रशंसा की। श्रीधर पाठक के संपर्क से पंत जी ने उनकी रचनाओं में समन्वित संस्कृत के ध्वनि-सौंदर्य से परिचय किया। हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि उस समय तक गुप्त जी का ध्वनि-सौंदर्य वोल-चाल

की भाषा का ध्वनि-सौंदर्य या ज़्यादा अच्छा होगा कि कहें, अर्थ-सौंदर्य था। श्री पाठक जी की अल्पज्ञात 'परिवर्तन' कविता और पंत जी की विख्यात 'परिवर्तन' (पल्लव) रचना में जो सूक्ष्म संबंध है उसकी ओर शायद समालोचकों का ध्यान अभी नहीं गया। बख्शी जी पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के अवकाश ग्रहण करने पर 'सरस्वती' के संपादक होकर आए। द्विवेदी जी की रुचि के विपरीत बख्शी जी पंत जी की कविता के प्रशंसकों में थे और मास-दर-मास पंत जी की कविता 'सरस्वती' के प्रथम पृष्ठ पर छपकर आने लगी। छायावादी नई कविता को जन-मन में प्रतिष्ठित करने में बख्शी जी का कम हाथ नहीं है।

१९२६ में पंत जी का 'पल्लव' प्रकाशित हुआ।

कई दृष्टियों से 'पल्लव' का प्रकाशन युगांतकारिणी घटना थी। इसने द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता के ऊपर छायावादी कविता की विजय का घोष किया। इसने यह संकेत दिया कि कवि ने अब एक अधिक भावपूर्ण व्यक्तित्व से बोलना आरंभ किया है, उसने वस्तुओं को देखने का एक नया दृष्टि-कोण अपनाया है, उसकी भावभूमि भी बदल गई है जिसपर प्रकृति के सौंदर्य-रहस्य की प्रधानता है, और इतना सब बदलने के बाद स्वाभाविक है कि उसकी अभिव्यंजना की शैली भी बदल गई है। 'पल्लव' समाप्त करने के बाद जो प्रभाव मन पर रह जाता है वह यह है—एक प्रकृति-प्रेमी कवि मानवी-प्रेम की ओर आकर्षित होता है और उसके प्रथम आघातों से ही विचलित होकर विश्व-जीवन पर चिंतन करने लगता है

और पाता है कि यह अखिल ब्रह्मांड ही वेदनामय है।

'पल्लव' की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। इसने अब भी कही-कहीं चल रहे ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली के विवाद को समाप्त किया। इसने सिद्ध किया कि पंत जी को खड़ी बोली काव्य के भविष्य और अपनी कवित्व शक्ति मे कितना दृढ़ विश्वास है। उन्होंने खड़ी बोली की प्रकृति और उसके छंदों की प्रवृत्ति का सूक्ष्म विवेचन किया और यह भी दिखलाया कि अपने शब्दों के चुनाव और छदों के चयन मे उन्होने कितनी सतर्कता बरती है। अपने स्वभाव-वैषम्य से उन्होंने कहीं-कही व्याकरण की कड़ियाँ भी तोड़ी, पर इतने दिनों के बाद भी वे सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत नही हुई और उन्हीके काव्य की विशेषता बनी हुई है।

१९२७ मे 'वीणा' प्रकाशित हुई। इसमें प्रायः पल्लव-काल के पहले की रचनाएँ है। इनके द्वारा जैसे पंत जी ने अपने कवि-कर्म की दीक्षा ली है। उनका कवि-पंथ आत्मनिर्णीत है।

'ग्रंथि' (१९२९) मे प्रकाशित १९२० की रचना है। यह वियोगांत प्रेम-कथा-काव्य है। माध्यम पर यथेष्ट अधिकार और अभिव्यक्ति मे व्यक्तिगत साहस की कमी के कारण यह रचना अधिक मर्मस्पर्शी नही बन पड़ी। इस अनुभव का अधिक कलामय रूप आगे चलकर 'आँसू' और 'उच्छ्वास' मे निखरा, जो पल्लव मे सम्मिलित हुए।

१९३१ और '४० के बीच पंत जी प्रायः कालाकाँकर राज्य मे रहे। यहाँ जीविकोपार्जन की चिंताओं से मुक्त पंत जी ने

अपना समय वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अतर्राष्ट्रीय, राज-नीतिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाने मे लगाया।

'गुजन' १९३२ में प्रकाशित हुआ। इसके स्वर मे विविधता है। कुछ कविताएँ प्रकृति-प्रेम पर है, अतर केवल इतना है कि अव प्रकृति के प्रेमी ने मानव-प्रेम और मानव-सौदर्य भी जान लिया है; साथ ही उसे किसी ऐसी सत्ता का भी विश्वास हो गया है जिसके लिए प्रकृति दर्पण मात्र है। कई कविताएँ आत्म-संयम और साधना से संवद्ध है जिनमे कवि वैयक्तिक सुख, दुख, आकर्षण, विकर्षण, संघर्ष, चिंता से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है। आश्चर्य यह देखकर होता है कि कवि को वड़ी जल्दी सफलता मिल जाती है। वह अपने जीवन की अपूर्णता को मानव-जीवन की अपूर्णता मे भूल जाता है, विश्व के लिए नव-जीवन की आवश्यकता का अनुभव करता है, और उच्चादर्शो का प्रेमी वन जाता है। सक्षेप मे 'गुजन' मे प्रकृति के पुजारी, नारी के प्रेमी, मानव-जाति के कल्याणाकाक्षी और ईश्वर के चिर विश्वासी कवि एव द्रष्टा का स्वर हम एक साथ सुनते है।

'ज्योत्स्ना' १९३४ मे प्रकाशित हुई। यह एक रूपक है जिसके द्वारा पंत जी ने अपनी कल्पना का आदर्श साम्राज्य स्थापित किया है। नाटक की दृष्टि से मैं इसे वड़ा अथवा अच्छा नाटक भी न कहूँगा, इसके कुछ गीत पत जी के सर्वोत्तम गीतो मे रखे जाएँगे। फिर भी 'ज्योत्स्ना' महान् कलाकृति है; और उसकी महत्ता है कवि की उन्मुक्त, उदात्त, उदार, व्यापक

और शुभ्र-दृष्टि (विज़न) में, जिसके आगे शायद वह आज तक नहीं देख सका। इस दृष्टि ने सामयिक सुधारवाद, राष्ट्रवाद, क्रांतिवाद—सबके ऊपर उठकर समस्त पृथ्वी एवं समस्त मानव-जाति का एक ही सुखमय, शांतिमय, समुज्ज्वल, स्वर्गतुल्य भविष्य आँका है।

'ज्योत्स्ना' के संसार का मनुष्य जाति, वर्ग, राष्ट्र, धर्म की सीमाओं से मुक्त केवल मनुष्य है। वह देश, काल, परिस्थितियों के संकीर्ण आदर्शों एवं नैतिकताओं से ऊपर उठ गया है, परंतु जीवन के उच्च और शाश्वत आदर्शों से प्रेरित है। वह प्रवृत्ति के सौंदर्य का उपासक है, पर निवृत्ति की शुचिता का भी आराधक है। वह देह की आवश्यकताओं-सुविधाओं को संचित करने में कर्म-श्रमरत है, पर आत्मा की भूख, तृप्ति और शांति के लिए भी साधनाशील है। एक शब्द में, उसने बाहर-भीतर, प्रत्यक्ष-परोक्ष, विज्ञान-ज्ञान, व्यक्ति-समष्टि, मुक्ति-बंधन आदि की विषमताओं के बीच एक सुरुचिपूर्ण और सुसंस्कृत संतुलन प्राप्त कर लिया है।

'सर्व देश, सर्व काल,
धर्म जाति वर्ण जाल,
हिलमिल सब हों विशाल,
　　　　एक हृदय, अगणित स्वर।'

◇　　◇　　◇

'अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन-बंधन!'

◇　　◇　　◇

'मत हो विरक्त जीवन से,
अनुरक्त न हो जीवन पर।'

अंत वाली दो पंक्तियाँ पंत जी के आदर्श संसार का मूल मंत्र उद्घोषित करती हैं और मेरी दृष्टि में शायद ये उनकी सर्वश्रेष्ठ पंक्तियाँ हैं। यदि मुझसे कोई पूछे कि पंत जी के जीवन-दर्शन को जानने के लिए उनकी लगभग दो दर्जन पुस्तकों में से कौन एक ही पुस्तक पर्याप्त होगी, तो मै निःसंकोच 'ज्योत्स्ना' का नाम लूंगा। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि 'ज्योत्स्ना' उस समय की रचना है जब पंत जी का परिचय अरविंद-दर्शन से नहीं हुआ था। पंत जी को अपने जीवन-दर्शन के लिए अरविंद-दर्शन से बहुत बल प्राप्त हुआ है, पर उनकी उद्भावना मौलिक है।

सृजन-संहार जीवन मे साथ चलते हैं। संहार भी सृजन का ही सहायक होता है। इसे 'ज्योत्स्ना' के चौथे भाग में दिखाया गया था। 'युगांत' (१९३६) का प्रमुख स्वर इन संहारक-सर्जक शक्तियों का संबोधन है :

'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र।'



'गा कोकिल बरसा पावक-कण।'

'युगवाणी' १९३९ मे प्रकाशित हुई। 'पल्लव' की कोमल कांत पदावली से अभ्यस्त कानों को 'युगवाणी' कर्कश प्रतीत हुई। 'युगांत' की कुछ कविताओ को ध्यान मे रक्खें तो यह परिवर्तन इतना अचानक आया हुआ न प्रतीत होगा। इसमें संदेह नही कि 'युगवाणी' की रचनाएँ अध्ययन और विचार से बोझिल हैं। उन्होंने स्वयं लिखा था कि इसमे मैंने 'युग के गद्य

को वाणी देने का प्रयत्न किया है।'

'आओ, मेरे स्वर में गाओ,
जीवन के कर्कश अपस्वर।'

पर 'युगवाणी' में 'युग का गद्य' और 'कर्कश अपस्वर' ही नही है, पर्याप्त जीवन का पद्य और कोमल स्वर भी है। यह अवश्य है कि कवि अब केवल गायक नहीं, वह द्रष्टा, उपदेष्टा, आश्वास्ता भी है। इनकी निम्नतम नसेनी पर वह मात्र तुक-वंद रह जाता है, गो ऐसी स्थितियाँ बहुत नहीं है; पर इन पंक्तियों को,

'मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद,'

कविता कौन कहेगा ! 'गांधीवाद' और 'अविवाद' अच्छे तुक भी नहीं हैं। मुक्त गद्य जब तुक में जकड़ दिया जाता है तो वह श्रीहीन हो जाता है। यह तो अच्छा हुआ कि 'ज्योत्स्ना' के गद्य भाग को कवि ने पद्य-बद्ध नहीं करना चाहा।

'युगवाणी' से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि अब 'वन्य-खग' की जगह पर 'युग पिक' और 'प्रकृति गायक' के स्थान पर 'जन चारण' बनने का प्रयत्न कर रहा है। वह 'स्वांतः-सुखाय' नहीं गाता, जनहिताय बोलता है। वह लोगों को आनंद देना नहीं चाहता, उनको शिक्षित करना चाहता है, उनको गढ़ना चाहता है।

'ग्राम्या' (१६४०) मे कवि 'ज्योत्स्ना' की कल्पना-भूमि और 'युगवाणी' की विचार-भूमि से अधिक स्थूल धरातल पर आ गया है। उदाहरण के लिए 'ज्योत्स्ना' ने अपनी जादू की

छड़ी के स्पर्श से लोगों को जिस युग सीमित आदर्श और नैतिकता से मुक्त कर दिया था वही यहाँ क्रूर हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ बनकर ग्रामीणों को जकड़ रही है। पंत जी ने ग्राम को मध्यकालीन सामंती सभ्यता के शिकार के रूप में देखा, परंतु साथ ही भावी संस्कृति के बीज भी उन्हें वहीं दिखाई दिए। उन्होंने दस बरस गाँव मे बिताए थे और गाँव के जीवन के विभिन्न पहलुओं को पैनी दृष्टि से देखा था। 'ग्राम्या' की बहुत-सी कविताएँ उनकी निरीक्षण-शक्ति की सबूत हैं। पंत जी विशुद्ध वर्णन के भी बहुत सिद्ध कवि हैं।

१९४० में पंत जी ने कालाकाँकर से विदा ली। उनके मन मे यह विचार प्रबल वेग से लहरें मारने लगा कि 'ज्योत्स्ना' मे जिस आदर्श संसार का स्वप्न उन्होंने देखा है उसे साकार करने के लिए उन्हें कुछ ठोस काम भी करना चाहिए। कवि का काम शब्दों का महल उठाकर ही समाप्त नही हो जाता, उसे ईंट-गारा-चूना मे भी हाथ डालना चाहिए। संभवतः उनपर प्रगतिवाद-आंदोलन का प्रभाव था। उदाहरण कवीन्द्र रवीन्द्र के 'शांति निकेतन' मे था ही। उन्होंने 'लोकायतन' नाम की संस्था स्थापित करने की योजना बनाई। परंतु समय-समाज ने उनका साथ नही दिया। वे कुछ समय प्रसिद्ध नर्तक उदयशंकर के कल्चर सेंटर से संबद्ध रहे, उनके साथ प्रदर्शन-यात्रा मे भी घूमे। उन्होने उनके 'कल्पना'-नृत्य चित्र में भी गीत-लेखक के रूप मे सहयोग दिया; इसी बीच वे एक लंबी बीमारी के भी शिकार हुए। वे अपने स्वप्नों की दुनिया बसा न सके और फ़िल्मी दुनिया उनके स्वभाव के अनुकूल न पड़ी। एक घनी

उदासी उनके मन पर छा गई।

आज जीवनोदधि के तट पर
खड़ा अवांछित, क्षुब्ध, उपेक्षित।
(स्वर्णकिरण '४७)

'कल्पना' का चित्र मद्रास में बन रहा था, वहीं से निकटस्थ पांडीचेरी के अरविंद आश्रम ने उन्हें संकेत किया। अरविंद-दर्शन से वे कुछ वर्ष पूर्व परिचित हो चुके थे। अब वे जाकर कुछ समय तक आश्रम में रहे, वहाँ उन्होंने श्री अरविंद के दर्शन किए, उनके विचारों का विस्तृत अध्ययन किया। उन्हे अनुभव हुआ कि जिस स्वर्ग को लाने का प्रयत्न वे मुख्यतया वाहर से कर रहे थे उसे तो भीतर से, अंतर्जीवन से, अंतर्मन से, अंतश्चेतन से लाना होगा और इसीकी साधना में श्री अरविंद, आश्रम की माता श्री और वहाँ के साधक लगे हुए है। अपनी वाणी से इसीमे योग देने का उन्होंने निश्चय किया। श्री अरविंद के अध्यात्मवादी आशावान विकास दर्शन से पंत जी को वड़ी शांति मिली :

'निज जीवन का कटु संघर्षण
भूल गया यह मानव अंतर
जग जीवन के नव स्वप्नों की
ज्योति वृष्टि में स्नान कर अमर।
(स्वर्णकिरण)

उन्होंने आश्रम में रहकर जो कुछ लिखा वह १९४७ में 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' मे प्रकाशित हुआ। एक वार

उनकी शैली मे फिर महान् परिवर्तन देखा गया। शैली का संबंध तो जीवन से होता है। जब शैली बदलती है तब उसके पहले ही जीवन बदल चुकता है।

पंत जी भावानुभूति के कवि के रूप मे हिन्दी मे आए थे। 'ज्योत्स्ना' के बाद बौद्धिक-चिंतन से वे काव्य लिखने लगे, पर इसके मतलब यह नहीं हैं कि भावानुभूति उनके अंदर से बिलकुल निकल गई। 'युगवाणी' की कई कविताएँ उसी भावानुभूति से ओतप्रोत है जिससे 'पल्लव' या 'गुंजन' की। उदाहरण के लिए युगवाणी की 'आवेश' शीर्षक कविता देखिए :

'ज्यों मधुवन में गूँजते भ्रमर,
ज्यों आम्रकुंज मे पिकी मुखर,
मेरी उर तंत्री से रह-रह
फूटते मधुर गीतों के स्वर।' आदि।

पर जग-जीवन को देखने-समझने के लिए मनुष्य के पास भावना और बुद्धि के साधन ही नही। उसके पास इनसे भी बड़ा साधन है—सहज-स्फुरण (इंटुइशन) का जिसे सूक्ष्म प्रेरणा, दिव्य प्रेरणा, सूक्ष्म चेतना, दिव्य चेतना, सूक्ष्म दृष्टि आदि मे उत्तरोत्तर विकसित कर दिव्यदृष्टि मे परिणत किया जा सकता है। 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' मे ऐसी कविताओ का प्राधान्य है जिनमे सहज-स्फुरण का आश्रय लिया गया है, पर भावना और बुद्धि के स्रोत क्षीण नही हो गए हैं, कहीं-कही तो वे अधिक मार्मिक और तार्किक हो गए है।

चाहे भावना से दे, चाहे बुद्धि से दे, चाहे सहज-स्फुरण से

2084

दे, कवि को तो कविता ही देनी है। कवि की कविता समझने के लिए कवि के दर्शन को समझने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। कविता का रस लेते-लेते दर्शन के तत्त्व भी हृदयंगम हो जाएँ, यही वांछनीय है। इसमे कोई संदेह नहीं कि पिछले दस-वारह वरसों से पंत जी एक विशेष दर्शन में बँध चुके हैं; वह आस्तिक है, विकासवादी हैं, अंतर्वाह्य संयोजक है, कर्म-श्रम-प्रेरक है, मानव-मंगल-कारक है, विश्वैक्य संस्थापक है, निरंतर आशावान है, पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने का अभिलाषी है और मनुष्य को देवत्व ही नही, ईश्वरत्व के गुण से भी अलंकृत करने की संभावनाएँ देखता है। फिर भी पंत का कवि दर्शन-वद्ध होकर भी सृजन-मुक्त है और निरंतर सृजन-संलग्न है।

प्राय: कवि भावना से प्रेरित होकर कविता लिखते है, परन्तु पंत जी ने भावना को बुद्धि से संयमित किया है, सहज-स्फुरण से प्रोज्ज्वलित किया है। वे कभी केवल एक के वल पर, कभी एकाधिक को संयोजित कर अपनी रचनाएँ करते हैं; इस रचना-प्रक्रिया मे विविधता की कितनी संभावनाएँ हैं इसका आभास उनकी समस्त कृतियों को देखकर ही किया जा सकता है। प्राय: कवि व्यक्ति के मनोभावों मे सीमित होकर कविता लिखते हैं; पंत जी ने व्यक्ति को समाज में, समाज को मानवता मे, और मानवता को सृष्टि के अंतर्वाह्य-विकास-क्रम में रखकर देखा है। विन्दु को केवल विन्दु करके देखना उसे गलत देखना है; उसे सही देखना, उसे सिंधु के अंग के रूप मे देखना है; क्षण को केवल क्षण मात्र समझना उसे गलत समझना है; उसे शाश्वत के हृदय की धड़कन समझना, उसे सही समझना है।

यह दर्शन की दृष्टि हुई। कविता मे दर्शन पर विजय पाने की क्षमता उसकी इस जादुई शक्ति मे निहित है कि वह विंदु को भी सिंधु और क्षण को भी शाश्वत का मान दे सकती है। पंत जी उसको इस शक्ति से अनभिज्ञ नही है :

'वहाँ बूँद का मान उदधि से
कही अधिक है निश्चित !'
(स्वर्णकिरण)

उन्होने स्वयं बहुत-सी बूँदों को उदधि का मान दिया है। परतु उत्तरोत्तर उन्होने कविता की इस शक्ति का कम उपयोग किया है। हमारे अधिकतर पाठकों के लिए अभी जग-जीवन-काल को उस समग्रता से देखना संभव नही हुआ जो उत्तरोत्तर पंत जी के लिए सहज और स्वाभाविक हो गया है। इसी प्रकार हमारे अधिकांश पाठकों को अभी भावना के स्तर से ऊपर उठकर बुद्धि और सहज-स्फुरण-गम्य सत्य को ग्रहण करना संभव नही हुआ। इसी कारण उन्होंने 'युगवाणी' का विरोध किया और 'स्वर्णकिरण' से उदासीनता दिखाई।

'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' (कुछ प्रेम-गीतों को छोड़-कर, जो १९४१ की रचनाएँ है, और 'सन्यासी का गीत' को भी, जो १९३५ का अनुवाद है) लगभग एक ही समय की रचनाएँ है—'४६-४७' की। पग्तु दोनों संग्रहो मे कविताओं का विभाजन जल्दवाजी मे कर दिया गया है। 'स्वर्णकिरण' की कुछ कविताओ का उचित स्थान 'स्वर्णधूलि' मे था; 'स्वर्णधूलि' की कुछ कविताओं का, 'स्वर्णकिरण मे'; 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' के संवंध मे भी यही असावधानी की गई थी। खैर, दोनों

संग्रहों पर साथ विचार करें तो देखेंगे कि पन्त जी अंतर्चेतना और वाह्य सामाजिक-युगीन धरातल पर एक साथ काम कर रहे है। साथ ही उनमें भावना, बुद्धि और सहज-स्फुरण—तीनों सजग और सचेत है। 'स्वर्णधूलि' के एक बड़े भाग में वेद-मंत्रों के अनुवाद हैं। 'स्वर्णकिरण' मे भी वेद और उपनिषद् के मंत्रों की अनेक प्रतिध्वनियाँ है। इन अनुवादों के विषय में मुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं। 'स्वर्णकिरण' के—

'हाउ हाउ, वह स्वर्ण पुरुष' आदि

पर यह लिखकर कि 'पंत जी ने यह शब्द अपने बंवई-प्रवास मे वहाँ की वोलचाल से लिया है', एक समालोचक ने अपने को बड़ा उपहासास्पद वनाया है[1]। 'हाउ हाउ हाउ योसावसौ पुरुषः सोहमस्मि'—यह तो वेद वाक्य है। 'स्वर्ण-किरण' मे 'अशोक वन' अन्तर्चेतना क्षेत्र की, और 'स्वर्णधूलि' मे 'मानसी' सामाजिक क्षेत्र की प्रतीक-रचनाएँ है।

हम वाहर के स्थूल संघर्ष-विजय-पराजय-विकास से तो परिचित है, पर अंतर के सूक्ष्म संघर्ष की भी वहुत-सी अव-स्थाएँ है। इनको समझने और उन्हे वाणी देने का प्रयत्न पंत जी ने 'उत्तरा' मे किया है। चेतना के विकास अथवा ऊर्ध्व संचरण में एक अवस्था ऐसी आती है जव विना परमात्मा की करुणा-कृपा के प्रगति असंभव होती है। इसके लिए आत्म-समर्पण की आवश्यकता सव संतो, दार्शनिकों ने वताई है। 'उत्तरा' के अंतिम गीतों में उसी आत्मसमर्पण के गीत है :

---

१. ज्योतिविहग—शांतिप्रिय द्विवेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५१; पृ० २८७।

'अमित तुम्हारी दया खिलाती
मलिन पंक मे पंकज नूतन,
कहता, क्या विस्मय, मै !'

◇ ◇ ◇

'संशय भय मोह विषाद हीन
तेरी करुणा मे निर्भय मै !......'
पथ शूल विहँस मृदु फूल वने
मै विजयी प्रिय, तेरी जय मे !'

◇ ◇ ◇

'यह कामना रहित रहस्य क्षण,
केवल निश्छल आत्म समर्पण,
तुम्हे हृदय मंदिर मे पाकर
प्रीति मधुर सकुचाई !'
(उत्तरा)

हमारे भक्तिकाल मे और छायावादी युग मे भी आत्म-समर्पण के वड़े हृदय-विद्रावक गीत लिखे जा चुके है। पंत जी के इन गीतों में भावना और राग का तत्त्व तो उभरा है पर तन्मयता की कमी है। हृदय वुद्धि के अनुशासन में रहकर वोलता है, प्रीति ज्ञान के नियंत्रण मे चलती है, कविता दर्शन की मर्यादा में रहकर आगे वढ़ती है।

इस वीच उन्होंने वहुत-सी कविताएँ विशेष अवसरों पर भी लिखी जो 'युगपथ' मे युगांतर के अंतर्गत प्रकाशित की गई है। यह तो पहले भी कह चुका हूँ कि पंत जी की दृष्टि एक साथ ही अंतर्मुखी और वहिर्मुखी रह सकती है।

१९५० मे पंत जी आल इंडिया रेडियो मे हिंदी नियोजक के पद पर नियुक्त हुए और १९५७ तक इस रूप मे कार्य करते रहे। इस काल में उन्होंने कई रूपक लिखे जो रेडियो से प्रसारित हुए। ये 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संग्रहीत हैं। इन रूपकों में, प्राय: हर एक मे, एक साधक, शिल्पी, कलाकार, द्रष्टा या कवि आता है जो पंत जी के विचार या दर्शन का प्रतिनिधि होता है और विभिन्न विचारों का अपने विचारों से समन्वय करता है।

'अतिमा' नाम से उन्होंने एक काव्य-संग्रह भी प्रकाशित किया है। विविधता जैसी कि पंत जी के प्राय: सभी सकलनों में पाई जाती है इसकी भी विशेषता है। विशेष प्रयत्न इसके अधिकांश गीतों मे उस चेतना का रूप समझने का है जो जड़-जीवन-मन-बुद्धि की सीमाओं का अतिक्रमण कर सत-चित-आनंद की ओर उठती है। परिणाम यह निकला है :

'मानव को समझो, हे देवों के आराधक,
मानव के भीतर ईश्वर ही अविरत साधक।'

'अतिमा' मे विशेष ध्यान आकर्षित करने वाली दो कविताएँ हैं—'आ: धरती कितना देती है!' और 'शांति और क्रांति'। ये अतुकांत रोला छंद मे है। हिंदी मे ब्लैंक वर्स कितना स्वाभाविक, लयमय, सशक्त, चित्रमय, भावमय हो सकता है इसका कुछ अनुमान इन दोनों कविताओं को देखकर लगाया जा सकता है। आधुनिक समय मे कविता समलय-तुक की चट्टान से एकदम मुक्त छंद के मैदान मे कूद पड़ी और इसीसे शायद बिखर गई, बीच मे उसने ब्लैंक वर्स—अतुकांत-समलय की

सीढ़ियों का सहारा लिया होता तो संभवतः इस विशृंखलता से बच जाती। बहरहाल स्फुट कविताओं के लिए यह माध्यम अभी बहुत हद तक अछूता है।

पिछले तीन वर्षो से पंत जी सम्माननीय सलाहकार के रूप मे रेडियो को सहयोग दे रहे है। वे प्रयाग मे ही रहते है, अपने वक्त के मालिक हैं और अपना समय यथेच्छ चिंतन-लेखन मे लगाते है।

उनके पिछले दो संग्रह है—'वाणी' और 'कला और बूढ़ा चाँद'। 'वाणी' मे विषयों की विविधता है, उपनयन (एप्रोच) की भी। मूल प्रयत्न चेतना के अंत:संघर्ष को ठीक समझने और उसे निर्दिष्ट करने का है। जो लोग उसे ठीक नही समझ रहे है, या जो उसे ग़लत दिशाएँ दे रहे है, उनको डाँटने-फटकारने और उनका विरोध करने का भी है। विचार-दर्शन में किसी नवीनता की प्रत्याशा नही की जानी चाहिए। अभिव्यक्ति मे नये छंद-रूपकों के प्रयोग हैं। प्रमुख कविता 'आत्मिका' है जिसमे अपने व्यक्तिगत जीवन के माध्यम से चेतना के संचरण को समझने का प्रयत्न किया गया है—यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे ठीक है तो यथा ब्रह्मांडे तथा पिडे भी ठीक होना चाहिए।

पंत जी का नवीनतम और अत्यंत साहसी प्रयोग 'कला और बूढ़ा चाँद' है जो उनके अट्ठावनवें वर्ष की रचना है। पंत जी का सहज-स्फुरण किसी ऐसे स्तर पर पहुँच गया कि उसने छंदो की पायल उतार गद्य काव्य में बोलना आरंभ कर दिया। आत्मानुभूति का उच्च स्तर किसी प्रकार का बंधन नही स्वीकार

करता—न छंद का, न अलंकार का, न शब्द का। उन्होंने 'वाणी' मे ही कहा था—'वाणी को क्या शब्द चाहिए'; 'कला और बूढ़ा चाँद' मे वे कहते हैं :

'ओ रचने
तुम्हारे लिए कहाँ से
ध्वनि छंद लाऊँ ?
कहाँ से शब्द भाव लाऊँ ?'

जीवन का बहुत-सा सत्य शब्दातीत है। अभिव्यंजना अपनी अंतिम सीमा पर विरोधाभासी हो जाती है। 'गर्जन मौन', 'गतिमय स्रोत की तरह गतिहीन', 'सीमा मे बहने वाली सीमाहीन', 'ओ शोभा पावक के कुड तुम कितने शीतल हो !' आदि अभिव्यक्तियाँ यह सिद्ध करती हैं कि कवि शब्द से अपने को अभिव्यक्त नहीं कर रहा है बल्कि शब्द उसकी अभिव्यक्ति में बाधक हो रहे है। इसके बाद दो ही स्थितियाँ है—या तो कवि मौन हो जाए, परंतु कवि है तो मौन कैसे होगा—'कविहि अरथ आखर बल साँचा'—या प्रतीकों मे बोले। प्रतीकों का प्रयोग, उनकी सार्थकता और सारगर्भिता पंत जी की कविता में उत्तरोत्तर बढ़ती रही है; यह किस सीमा तक जाएगी इसे बताना कठिन है।

'मै शब्दों की
इकाइयों को रौद कर
संकेतों में
प्रतीकों में बोलूँगा !

उनके पंखों को
असीम के पार
फैलाऊँगा ।'
(कला और बूढ़ा चाँद)

कविता के लिए गद्य-काव्य का माध्यम पंत जी ने पहली वार प्रयोग किया । हिंदी में वहुत-सा गद्य-काव्य लिखा जा चुका है । पर पंत जी का गद्य-काव्य अपनी विशिष्टता लेकर आया है । हमारे पिछले गद्य-काव्य मे जो श्रेष्ठ था वह भावनामूलक था, यह सहज-स्फुरण-मूलक है । प्रतीक का प्रयोग पहले भी हुआ था, पर पंत जी की अनुभूति और दर्शन-विचार की मौलिकता से उनके प्रतीक भी मौलिक हो गए है । मुक्त-छंद को विकृत होते देख उन्होंने उसे छंद-मुक्त कर नई कविता को एक पुराना माध्यम अभिनव करके प्रदान किया है । इस माध्यम को पुनर्जीवन देने में वे कहाँ तक सफल होते है, इसे तो समय ही वताएगा ।

संसार और भारत के जीवन मे पिछले ५० वर्प कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण रहे है । यह हमारा सौभाग्य है कि हमे इस काल में एक ऐसा भावप्रवण कवि मिला जो आज लगभग ४० वर्षो से जग-जीवन-काल की धड़कनों को सुनता और अपनी शक्ति से औरों को सुनाता रहा है । पंत जी की कविता से परिचय प्राप्त करना एक युग से परिचय प्राप्त करना है । कवि के जीवन और काव्य की जो उदात्त से उदात्त कल्पना हो सकती है पंत जी ने उसे अपने जीवन और काव्य मे मूर्तिमान करने के लिए साधना की है । समय की विकृतियो से आज

वहुत-सी चीज़ें अपने सही पैमानों में नहीं दिख रही है। जव सदियाँ वीत जाएँगी और हिंदी हिंद की एकता की भाषा होगी तव यह सहज स्पष्ट होगा कि राष्ट्रभाषा का यह कवि सचमुच उस युग-राष्ट्र का 'जन चारण' था जिसने कर्म, भावना और प्रज्ञा के प्रतीक गाँधी, टैगोर और अरविंद जैसी प्रतिभाओं को जन्म दिया था।

—बच्चन

१३, विलिंगडन क्रिसेंट,
नई दिल्ली–११।
अप्रैल, १९६०



संकलन

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना रङ्गिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल-विहङ्गिनि !
पाया तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख मे छिपकर,
ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर,
प्रहरी-से जुगनू नाना;

शशि-किरणों से उतर-उतरकर
भू पर कामरूप नभ-चर
चूम नवल-कलियों का मृदु-मुख
सिखा रहे थे मुसकाना;

स्नेह-हीन तारों के दीपक,
श्वास-शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि मे,
तम ने था मण्डप ताना;

कूक उठी सहसा तरु-वासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अन्तर्यामिनि !
बतलाया उसका आना ?

बिकल सृष्टि के अन्ध-गर्भ से
छाया-तन बहु छाया-हीन,
चक्र रच रहे थे खल-निशिचर
चला कुहुक, टोना-माना;

छिपा रही थी मुख शशि-बाला
निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल-क्रोड़ में बन्दी था अलि,
कोक शोक से दीवाना;

मूर्छित थीं इन्द्रियाँ, स्तब्ध जग,
जड़-चेतन सब एकाकार,
शून्य-विश्व के उर में केवल
साँसों का आना जाना;

तूने ही पहले बहु-दर्शिनि !
गाया जागृति का गाना,
श्री-सुख-सौरभ का नभ-चारिणि !
गूँथ दिया ताना-बाना !

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज मे हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत-जाल मे
धर कर नाम-रूप नाना;

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल,
सुप्त-समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम-अधरों पर
हिल मोती का-सा दाना;

खुले पलक, फैली सुवर्ण-छवि,
खिली सुरभि, डोले मधु-वाल,
स्पन्दन, कम्पन, औ' नव-जीवन
सीखा जग ने अपनाना;

प्रथम-रश्मि का आना रङ्गिणि!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे, बाल-विहङ्गिनि!
पाया यह स्वर्गिक गाना?

—'वीणा' से
(१६१६)

याचना

बना मधुर मेरा जीवन !
नव नव सुमनों से चुन चुन कर
धूलि, सुरभि, मधुरस, हिम-कण,
मेरे उर की मृदु कलिका में
भरदे, करदे विकसित मन ।

बना मधुर मेरा भाषण !
वंशी-से ही करदे मेरे
सरल प्राण औ' सरस वचन,
जैसा जैसा मुझको छेड़े,
बोलूँ अधिक मधुर, मोहन;
जो अकर्ण अहि को भी सहसा
करदे मंत्र-मुग्ध, नत फन,
रोम रोम के छिद्रों से मा,
फूटे तेरा राग गहन !
बना मधुर मेरा तन, मन !

—'पल्लव' से

(जनवरी, १९१९)

निर्झरी

यह कैसा जीवन का गान
अलि, कोमल कल मल टल मल ?
अरी शैल-बाले नादान,
यह अविरल कलकलछलछल ?

झर झर कर पत्रों के पास,
रण मण रोड़ों पर सायास,
हँस हँस सिकता से परिहास
करती हो अलि, तुम झलमल !

स्वर्ण वेलि-सी खिली विहान,
निशि में तारों की-सी यान;
रजत तार-सी शुचि रुचिमान
फिरती हो रंगिणि, रल मल !

—दिखा भंगिमय भृकुटि विलास
उपलों पर वह रंगी लास,
फैलाती हो फेनिल हास,
फूलों के कूलों पर चल !

अलि, यह क्या केवल दिखलाव,
मूक व्यथा का मुखर भुलाव?
अथवा जीवन का बहलाव?
सजल आँसुओं की अंचल!

वही कल्पना है दिन रात,
बचपन औ' यौवन की बात;
सुख की या दुख की? अज्ञात!
उर अधरों पर है निर्मल!

सरल सलिल की सी कल तान,
निखिल विश्व से निपट अजान,
विपिन रहस्यों की आख्यान,
गूढ़ बात है कुछ कल मल!

—'पल्लव' से
(सितम्बर, १९२२)

उच्छ्वास

(सावन-भादों)

(सावन)

सिसकते, अस्थिर मानस से
बाल-बादल-सा उठकर आज
सरल, अस्फुट उच्छ्वास !
अपने छाया के पखों में
(नीरव-घोष भरे शंखों में)

मेरे आँसू गूंथ, फैल गंभीर-मेघ-सा,
आच्छादित करले सारा आकाश !

यह अमूल्य मोती का साज,
इन सुवर्णमय, सरस परों मे
(शुचि-स्वभाव से भरे सरों मे)
तुझको पहना जगत देखले; —यह स्वर्गीय प्रकाश !

मन्द, विद्युत-सा हँसकर,
वज्र-सा उर मे धँसकर,

गरज, गगन के गान ! गरज गम्भीर-स्वरों में,
भर अपना संदेश उरों में, औ' अधरों में;
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षणभर में।

हृदय के सुरभित-साँस !

जरा है आदरणीय;
सुखदयौवन ! विलास-उपवन रमणीय;
शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु, सरल, कमनीय,
—बालिका ही थी वह भी।

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान-नयन,
सहज था सजा सजीला-तन।
सुरीले, ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका-गान
विकच-बचपन को, मन को खींच।
उचित बन जाता था उपमान।

छपी-सी पी-सी मृदु-मुसकान
छिपी-सी, खिची सखी-सी साथ,
उसी की उपमा-सी बन, मान
गिरा का धरती थी, धर हाथ।

रँगीले, गीले फूलों-से
अधखिले-भावों से प्रमुदित
बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित।
—इसी मे था असीम अवसित!

मधुरिमा के मधुमास!
मेरा मधुकर का-सा जीवन,
कठिन कर्म है, कोमल है मन;
विपुल मृदुल-सुमनों से सुरभित,
विकसित है विस्तृत-जग-उपवन!

यही हैं मेरे तन, मन, प्राण,
यही है ध्यान, यही अभिमान;
धूलि की ढेरी मे अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय-गान!

कुटिल-काँटे हैं कही कठोर,
जटिल तरु-जाल है किसी ओर,
सुमन-दल चुन-चुन कर निशिभोर
खोजना है अजान वह छोर!
—नवल-कलिका थी वह।

उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया,

निंत मधुर मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया।

कह उसे कल्पनाओं की
कल कल्प-लता, अपनाया;
बहु नवल-भावनाओं का
उसमें पराग था पाया।

मैं मन्द-हास-सा उसके
मृदु-अधरों पर मँडराया;
औ' उसकी सुखद-सुरभि से
प्रतिदिन समीप खिंच आया।

पावस-ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश;
पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल मे निज महाकार;

—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल!!

गिरि का गौरव गाकर झर् झर्
मद से नस नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर।

गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकाङ्क्षाओं-से तरुवर
है झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर !

—उड़ गया, अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार पारद के पर।
रव-शेष रह गए हैं निर्झर !
है टूट पड़ा भू पर अम्बर !

धँस गए धरा मे सभय शाल !
उठा रहा धुँआ, जल गया ताल !
—यों जलद-यान मे विचर, विचर,
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल !

(वह सरला उस गिरि को कहती थी वादल-घर।)

इस तरह मेरे चितेरे-हृदय की
वाह्य-प्रकृति वनी चमत्कृत-चित्र थी;
सरल-शैशव की सुखद-सुधि-सी वही
वालिका मेरी मनोरम-मित्र थी।

(भादों)

दीप के बचे-विकास !
अनिल-सा लोक लोक मे,
हर्ष मे और शोक में,
कहाँ नही है स्नेह ? साँस-सा सबके उर मे !

रुदन, क्रीड़न, आलिङ्गन,
भरण, सेवन, आराधन,
शशि की-सी ये कलित-कलाएँ किलक रही हैं पुर पुर में।

यही तो है बचपन का हास
खिले-यौवन का मधुप-विलास,
प्रौढ़ता का वह बुद्धि-विकाश,
जरा का अन्तर्नयन-प्रकाश;
जन्मदिन का है यही हुलास,
मृत्यु का यही दीर्घ-निःश्वास!

है यह वैदिक-वाद;
विश्व का सुख-दुखमय उन्माद!
एकतामय है इसका नाद :—

गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव-भाषण;
श्रवण तक आजाता है मन,
स्वयं मन करता बात श्रवण।

अश्रुओं में रहता है हास,
हास में अश्रुकणों का भास;
श्वास में छिपा हुआ उच्छ्वास,
और उच्छ्वासों ही में श्वास!

बँधे हैं जीवन-तार;
सब में छिपी हुई है यह झङ्कार!
हो जाता संसार
नहीं तो दारुण हाहाकार!

मुरली के-से सुरसीले
हैं इसके छिद्र सुरीले;
अगणित होने पर भी तो
तारों-से हैं चमकीले!

अचल हो उठते हैं चंचल;
चपल बन जाते हैं अविचल;
पिघल पड़ते हैं पाहन-दल;
कुलिश भी हो जाता कोमल!

चढ़ाता भी है तो गुण से
डोर कर मे है, मन आकाश;
पटकता भी है तो गुण से,
खीचने को चकई-सा पास!

मर्म-पीड़ा के हास!
रोग का है उपचार;
पाप का भी परिहार;
है अदेह संदेह, नही है इसका कुछ संस्कार!

हृदय की है यह दुर्बल-हार!!
खीचलो इसको, कही क्या छोर है?
द्रौपदी का यह दुरंत-दुकूल है!
फैलता है हृदय मे नभ-वेलि सा,
खोजलो, इसका कही क्या मूल है?

यही तो काँटे-सा चुपचाप
उगा उस तरुवर में —सुकुमार
सुमन वह था जिसमें अविकार—
वेध डाला मधुकर निष्पाप !!

बड़ों में दुर्बलता है शाप !
नहीं चल सकते गिरिवर राह,
न रुक सकता है सौरभवाह !
तरल हो उठता उदधि-अथाह,
सूर का दुख देता है दाह !

देख हाय ! यह, उर से रह रह निकल रही है आह,
व्यथा का रुकता नहीं प्रवाह !

सिड़ी के गूढ़-हुलास !
बीनते हैं प्रसून-दल;
तोड़ते ही हैं मृदु-फल;
देखा नहीं किसी को चुनते कोमल-कोंपल !!

अभी पल्लवित हुआ था स्नेह,
लाज का भी न गया था राग;
बड़ा पाला-सा हा ! संदेह,
कर दिया वह नव-राग विराग !

हो गया था पतझड़, मधुकाल,
पत्र तो आते हाय, नवल !

झड़ गए स्नेह-वृन्त से फूल,
लगा यह असमय कैसा फल !!

मिले थे दो मानस अज्ञात,
स्नेह-शशि बिम्बित था भरपूर;
अनिल-सा कर अकरुण आघात,
प्रेम-प्रतिमा कर दी वह चूर !!

घूमता है सन्मुख वह रूप
सुदर्शन हुए सुदर्शन-चक्र
ढाल-सा रखवाला-शशि आज
हो गया है हा ! असि-सा वक्र !!

बालकों का-सा मारा हाथ,
कर दिए विकल हृदय के तार !
नहीं अब रुकती है झंकार,
यही था हा ! क्या एक सितार ?
हुई मरु की मरीचिका आज,
मुझे गंगा की पावन-धार ।

कहाँ है उत्कंठा का पार !!
इसी वेदना में विलीन हो अब मेरा संसार !
तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार !
टूट जा यहीं यह हृदय-हार !!!

◇ ◇ ◇

कौन जान सका किसी के हृदय को ?
सच नहीं होता सदा अनुमान है !
कौन भेद सका अगम-आकाश को ?
कौन समझ सका उदधि का गान है ?
है सभी तो ओर दुर्बलता यही,
समझता कोई नही—क्या सार है !
निरपराधों के लिए भी तो अहा !
हो गया संसार कारागार है !!

—'पल्लव' से
(सितंबर, १६२१)

तेरा कैसा गान

तेरा कैसा गान,
विहंगम ! तेरा कैसा गान ?
न गुरु से सीखे वेद-पुरान,
न षड्दर्शन, न नीति-विज्ञान,
तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान,
काव्य, रस, छन्दों की पहचान ?
न पिक-प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर, मनन, शकुनि-नादान !

हँसते है विद्वान,
गीत-खग, तुझ पर, सब विद्वान !
दूर, छाया-तरु-वन मे वास,
न जग के हास-अश्रु ही पास,
अरे, दुस्तर जग का आकाश,
गूढ़ रे छाया-ग्रथित-प्रकाश,
छोड़ पंखों की शून्य-उड़ान,
वन्य-खग ! विजन-नीड़ के गान ।

मेरा कैसा गान,
न पूछो मेरा कैसा गान !
आज छाया वन-वन मधुमास,
मुग्ध-मुकुलों मे गन्धोच्छ्वास,
लुड़कता तृण-तृण में उल्लास,
डोलता पुलकाकुल वातास,
फूटता नभ में स्वर्ण-विहान,
आज मेरे प्राणों में गान !

मुझे न अपना ध्यान,
कभी रे रहा न जग का ज्ञान !
सिहरते मेरे स्वर के साथ
विश्व-पुलकावलि-से तरु-पात,
पार करते अनन्त अज्ञात
गीत मेरे उठ सायं-प्रात,
गान ही में रे मेरे प्राण,
अखिल-प्राणों में मेरे गान।

—'गुंजन' से
(जुलाई, १९२७)

फूलों का ह्रास

लाई हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
तरल तुहिन-वन का उल्लास
लोगी मोल, लोगी मोल ?

फैल गई मधु-ऋतु की ज्वाल,
जल-जल उठती वन की डाल,
कोकिल के कुछ कोमल बोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

उमड़ पड़ा पावस परिप्रोत,
फूट रहे नव-नव जल-स्रोत,
जीवन की ये लहरें लोल,
लोगी मोल, लोगी मोल ?

विरल जलद-पट खोल अजान
छाई शरद-रजत-मुसकान,
यह छवि की ज्योत्स्ना अनमोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

अधिक अरुण है आज सकाल—
चहक रहे जग-जग खग-बाल,
चाहो तो सुन लो जी खोल
कुछ भी आज न लूँगी मोल !

—'गुंजन' से
(एप्रिल, १९२७)

आत्मा का चिर-धन

क्या मेरी आत्मा का चिर-धन ?
मैं रहता नित उन्मन, उन्मन !

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर,
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर;
निज सुख से ही चिर चंचल-मन,
मैं हूँ प्रतिपल उन्मन, उन्मन ।

मैं प्रेमी उच्चादर्शो का,
संस्कृति के स्वर्गिक-स्पर्शो का,
जीवन के हर्ष-विमर्षो का;
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मै इच्छा से उन्मन, उन्मन ।

जग-जीवन मे उल्लास मुझे,
नव-आशा, नव-अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर-विश्वास मुझे;
चाहिए विश्व को नव-जीवन,
मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन ।

—'गुंजन' से
(फरवरी, १९३२)

नौका-विहार

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनन्त, नीरव भू-तल !
सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म-विरल,
लेटी है श्रान्त, क्लांत, निश्चल !
तापस-बाला-सी गंगा कल शशि-मुख से दीपित मृदु-करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी-विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर।

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता की सस्मित-सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पाले बँधी, खुला लंगर।
मृदु मन्द मन्द, मन्थर मन्थर, लघु तरणि, हंसिनी-सी सुन्दर,
तिर रही, खोल पालों के पर।
निश्चल-जल के शुचि-दर्पण पर विम्बित हो रजत-पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर।

कालाकाँकर का राज-भवन सोया जल मे निश्चिन्त, प्रमन,
पलकों में वैभव-स्वप्न सघन ।

नौका से उठती जल-हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर ।
विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अन्तस्तल,
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किए अविरल
फिरती लहरें लुक-छिप पल पल ।
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रुपहरे कचों मे हो ओझल ।
लहरों के घूँघट से झुक झुक दशमी का शशि निज तिर्यक-मुख
दिखलाता, मुग्धा-सा रुक-रुक ।

अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार ।
दो बाँहों-से दूरस्थ-तीर धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर ।
अति दूर, क्षितिज पर विटप-माल लगती भ्रू-रेखा-सी अराल
अपलक-नभ नील-नयन विशाल,
मा के उर पर शिशु-सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप,
वह कौन विहग ? क्या विकल कोक उड़ता, हरने निज विरह-शोक ?
छाया की कोकी को विलोक ।

पतवार घुमा, अब प्रतनु-भार
नौका घूमी विपरीत-धार।
डाँड़ों के चल करतल पसार, भर-भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार।
चाँदी के साँपों-सी रलमल नाँचतीं रश्मियाँ जल मे चल,
रेखाओं-सी खिच तरल-सरल।
लहरों की लतिकाओं मे खिल, सौ सौ शशि, सौ सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल मे फेनिल।
अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले-ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सोत्साह।

ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर मे आलोकित शत विचार।
इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला-विकास, शाश्वत शशि का यह रजत-हास,
शाश्वत लघु-लहरों का विलास।
हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत-प्रमाण
करता मुझको अमरत्व-दान।

—'गुंजन' से
(१९३२)

गीत

जीवन का श्रम-ताप हरो, हे !
सुख-सुखमा के मधुर-स्वर्ण से
सूने जग-गृह-द्वार भरो, हे !

लौटे गृह सब श्रांत चराचर,
नीरव तरु-अधरों पर मर्मर,
करुणानत निज कर-पल्लव से
विश्व-नीड प्रच्छाय करो, हे ! जी०

उदित शुक्र, अब अस्त भानु-बल,
स्तब्ध पवन, नत-नयन पद्म-दल,
तंद्रिल पलकों मे निशि के शशि !
सुखद स्वप्न बनकर विचरो, हे ! जी०

—'ज्योत्स्ना' से

गीत

जगमग-जगमग, हम जग का मग,
ज्योतित प्रतिपग करते जगमग।

हम ज्योति-शलभ, हम कोमल-प्रभ,
हम सहज सुलभ दीपों के नभ !

चंचल, चंचल बुझ-बुझ, जल-जल,
शिशि-उर पल-पल, हरते छल-छल !

हम पटु नभचर, हँसमुख सुंदर,
स्वप्नों को हर लाते भू पर,

झिलमिल-झिलमिल, स्वप्निल, तंद्रिल,
आभा हिल-मिल, भरते झिलमिल !

—'ज्योत्स्ना' से

गीत

निर्भय हो, निर्भय मानव !
निर्भीक-विचर पृथ्वी पर,
विचलित मत हो विघ्नों से,
निज आत्मा पर रह निर्भर !

है पूर्ण, सत्य अविनश्वर,
है पूर्ण, सत्य रे नश्वर,
है पूर्ण सत्य यह मानव,
है पूर्ण निखिल सचराचर !

मत हो विरक्त जीवन से,
अनुरक्त न हो जीवन पर,
जग परिधि मात्र जीवन की,
स्थित केंद्र अमर उर भीतर !

वन शांत, धीर, क्षमतामय,
वन स्नेही, सहृदय, सहचर,
गुण-दोष-युक्त जग-जीवन,
निज गुण से पर-अवगुण हर !

बढ़ती नित घृणा घृणा से,
तू उसे प्रेम से दे भर,
है दीप दीप से जलता,
है प्रेम प्रेम पर निर्भर!

निश्चय आत्मा है अक्षय,
निश्चय मृन्मय तन नश्वर,
वह जीवन-चक्र चिरंतन,
तू हँस-हँस जी, हँस-हँस मर!

—'ज्योत्स्ना' से

गीत

लो, जग की डाली-डाली पर
जागी नव-जीवन की कलियाँ !
मिट्टी ने जड़ निद्रा तजकर
खोली स्वप्निल पलकावलियाँ !

मलयानिल ने सरका उर से
उर्वी का तंद्रिल छायांचल,
रज-रज के रोएँ-रोएँ में
छू-छू भर दी पुलकावलियाँ !

शशि-किरणों ने मोती भर-भर
गूँथी सौरभ-अलकावलियाँ।
गूँजी, मधु-अधरों पर मँडरा
इच्छाओं की मधुपावलियाँ !

श्री, सुख, स्वप्नों से भर लाई
लो, ऊषा सोने की डलिया,
मुखरित रखतीं जग का आँगन
ये जीवन की नव रँगरलियाँ !

—'ज्योत्स्ना' से

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन !!

निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग !
जग नीड़ शब्द औ' श्वास हीन,
च्युत, अस्तव्यस्त पंखों-से तुम
झर झर अनंत में हो विलीन !

कंकाल-जाल जग मे फैले
फिर नवल रुधिर, —पल्लव लाली !
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली !

मंजरित विश्व मे यौवन के
जग कर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय-स्वर मदिरा से
भर दे फिर नव युग की प्याली !

—'युगांत' से
(फ़रवरी '३४)

ताज

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
स्फटिक सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास विहीन रहें जीवित जन !

मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !
प्रेम-अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल, भरे जीवन का प्रांगण ?

शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बनादें शव का ?
युग युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर
मानव के मोहांध हृदय मे किए हुए घर !

भूल गए हम जीवन का संदेश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर !

—'युगांत' से
(अक्तूबर '३५)

आओ

आओ, मेरे स्वर में गाओ!
जीवन के कर्कश अपस्वर!
मेरी वंशी मे लय बन जाओ।
अहंकार बन, राग द्वेष बन,
काम क्रोध भय विघ्न क्लेश बन,
शत छिद्रों से फूट फूट
शत निःश्वासों से मधु बरसाओ।

हे दूषित, हे कलुषित, गर्हित,
हे खंडित, हे त्यक्त, उपेक्षित,
मेरे उर मे चिर पावन बन,
संगति, सत्व, पूर्णता पाओ।
बन विरोध, संघर्षण मे बल,
बन विनाश संशय में निश्चल,
चिर विश्वास-शक्ति बन हे,
भव रोदन को संगीत बनाओ।

—'युगवाणी' से

पुण्य प्रसू

ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु-नीलिमा-गहन गगन ?
अनिमेष, अचितवन, काल-नयन ?—
निःस्पन्द शून्य, निर्जन, निःस्वन ?

देखो भू को !
जीव प्रसू को !
हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कुंजित गुंजित
कुसुमित
भू को !

कोमल
चंचल
शाद्वल
अंचल,
कल कल
छल छल
चल-चल-निर्मल ।—

कुसुम खचित
मारुत सुरभित
खग कुल कूजित
प्रिय पशु मुखरित—

जिस पर अंकित
सुर मुनि वंदित
मानव पद-तल !

देखो भू को,
स्वर्गिक भू को,
मानव पुण्य-प्रसू को !

—'युगवाणी' से

निश्चय

संघर्षों में शांति बनूं मैं।
अंधकार में पड़ जीवन के
अंधकार की कांति बनूं मैं।

जग जीवन के ज्वारों मे बह,
कोमल प्रखर प्रहारो को सह,
भव के क्रंदन किलकारों मे
हँसमुख नीरव क्रांति बनूं मैं।

घृणा उपेक्षा मे रह अविचल,
निंदा लांछन से बन उज्ज्वल,
त्रुटियों से ज्योतित कर निज पथ
भव-यात्रा की श्राति बनूं मैं।

झेल निराशा औ' निष्फलता,
दैन्य, स्वभाव जनित दुर्बलता,
आगे बढ़ूं धीर एकाकी,
भाग्य चक्र को भ्राति बनूं मैं।

—'युगवाणी' से

आवेश

ज्यों मधुबन में गूंजते भ्रमर,
ज्यों आम्रकुंज में पिकी मुखर,
मेरी उर तंत्री से रह रह
फूटते मधुर गीतों के स्वर।

ज्यों झरते हरसिंगार झर झर,
ज्यों हिम फुहार शुचि फहर फहर,
मेरे मानस से सुंदरता
निःसृत होती त्यों निखर निखर।

गिरि उर से ज्यों बहता निर्झर,
रवि शशि से तिग्म मधुरतर कर,
मेरे मन की आवेश - शांति
गीतों में पड़ती बिखर बिखर !

—'युगवाणी' से

ग्राम कवि

यहाँ न पल्लव वन मे मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों मे गुंजन,
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन !

यहाँ नहीं शब्दों मे बँधती
आदर्शों की प्रतिमा जीवित,
यहाँ व्यर्थ है चित्र गीत में
सुंदरता को करना संचित !

यहाँ धरा का मुख कुरूप है,
कुत्सित गर्हित जन का जीवन,
सुंदरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन ?

जहाँ दैन्य जर्जर असख्य जन
पशु-जघन्य क्षण करते यापन,
कीड़ो-से रेंगते मनुज शिशु,
जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन !

सुलभ यहाँ रे कवि को जग में
युग का नहीं सत्य शिव सुंदर,
कँप कँप उठते उसके उर की
व्यथा विमूर्छित वीणा के स्वर !

—'ग्राम्या' से

ग्राम युवती

उन्मद यौवन से उभर
घटा सी नव असाढ़ की सुंदर,
अति श्याम वरण,
श्लथ, मंद चरण,
इठलाती आती ग्राम युवति
वह गजगति
सर्प डगर पर !

सरकाती - पट,
खिसकाती - लट,
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट !
हँसती खलखल
अबला चंचल
ज्यों फूट पड़ा हो स्रोत सरल
भर फेनोज्वल दशनों से अधरों के तट !

वह मग मे रुक,
मानो कुछ झुक,

आँचल सँभालती, फेर नयन मुख,
पा प्रिय पद की आहट,
आ ग्राम युवक,
प्रेमी याचक,
जब उसे ताकता है इकटक,
उल्लसित
चकित,
वह लेती मूँद पलक पट ।

पनघट पर
मोहित नारी नर!
जब जल से भर
भारी गागर
खींचती उबहनी वह, बरबस
चोली से उभर उभर कसमस
खिंचते सँग युग रस भरे कलश,
जल छलकाती,
रस बरसाती,
बलखाती वह घर को जाती,
सिर पर घट
उर पर धर पट !

कानों में गुड़हल
खोंस,— धवल

या कुँई, कनेर, लोघ पाटल,
वह हरसिंगार से कच सँवार,
मृदु मौलसिरी के गूँथ हार,
गउओं सँग करती वन विहार,
पिक चातक के सँग दे पुकार,—
वह कुंद, काँस से,
अमलतास से,
आम्र मौर, सहजन, पलाश से
निर्जन मे सज ऋतु सिंगार

तन पर यौवन सुषमाशाली,
मुख पर श्रमकण, रवि की लाली,
सिर पर धर स्वर्ण शस्य डाली,
वह मेड़ों पर आती जाती,
उरु मटकाती,
कटि लचकाती,
चिर वर्षातप हिम की पाली,
धनि श्याम वरण,
अति क्षिप्र चरण,
अधरों से धरे पकी बाली।

रे दो दिन का
उसका यौवन!
सपना छिन का
रहता न स्मरण!

दुःखों से पिस,
दुर्दिन में घिस,
जर्जर हो जाता उसका तन !
ढह जाता असमय यौवन धन !
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस-खेला कुछ क्षण !!

—'ग्राम्या' से

स्त्री

यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर, तो वह नारी उर के भीतर,
दल पर दल खोल हृदय के स्तर
जब बिठलाती प्रसन्न होकर
वह अमर प्रणय के शतदल पर !

मादकता जग में कहीं अगर, वह नारी अधरों में सुखकर,
क्षण में प्राणों की पीड़ा हर,
नव जीवन का दे सकती वर
वह अधरों पर धर मदिराधर।

यदि कहीं नरक है इस भू पर, तो वह भी नारी के अंदर,
वासनावर्त में डाल प्रखर
वह अंध गर्त में चिर दुस्तर
नर को ढकेल सकती सत्वर !

—'ग्राम्या' से

विनय

विज्ञान ज्ञान बहु सुलभ, सुलभ बहु नीति धर्म,
संकल्प कर सकें जन, इच्छा अनुरूप कर्म।
उपचेतन मन पर विजय पा सके चेतन मन,
मानव को दो वह शक्ति : पूर्ण जग के कारण।

मनुजों की लघु चेतना मिटे, लघु अहंकार,
नव युग के गुण से विगत गुणों का अंधकार।
हो शांत जाति विद्वेष, वर्ग गत रक्त समर,
हो शांत युगों के प्रेत, मुक्त मानव अंतर।
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हों, सहृदय, सुंदर,
संयुक्त कर्म पर हो संयुक्त विश्व निर्भर।
राष्ट्रों से राष्ट्र मिले, देशों से देश आज,
मानव से मानव, हो जीवन निर्माण काज।

हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ग, जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु! भव मानवता का वर!

—'ग्राम्या' से

हिमाद्रि

मानदंड भू के अखंड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण,
प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण से
घेरे मेरे जीवन के क्षण !
मुझ अचलवासी को तुमने
शैशव मे आशी की पावन,
नभ मे नयनों को खो, तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन !

कब से शब्दो के शिखरों मे
तुम्हे चाहता करना चित्रित
शुभ्र शांति मे समाधिस्थ है
शाश्वत सुंदरता के भूभृत् !
बाल्य चेतना मेरी तुममे
जड़ीभूत आनंद तरंगित,
तुम्हे देख सौन्दर्य साधना
मेरी महाश्चर्य से विस्मित !

जिन शिखरों को स्वर्ण किरण नित
ज्योति मुकुट से करतीं मंडित,
जिन पर सहसा स्खलित तड़ित,
हो उठती निज आलोक से चकित !
जिन शिखरों पर रजत पूर्णिमा
सिन्धु ज्वार सी लगती स्तंभित,
जिनकी नीरवता में मेरे
गीत स्वप्न रहते थे झंकृत !

जिनकी शीतल ज्वाला मे जल
बनी चेतना मेरी निर्मल,
प्राण हुए आलोकित जिनके
स्वर्गोन्नत सौन्दर्य से सजल !
हृदय चाहता काव्य कल्पना को
किरीट पहनाना उज्वल
स्मृति मे ज्योति तरंगित स्वर्गिक
शृंगों के आलोक का तरल !

वसुधा की महदाकांक्षा से
स्वर्ग क्षितिज से भी उठ ऊपर
अंतर आलोकित से स्थित तुम
अमरों का उल्लास पान कर !
उरोभार से तरुण धरणि के
सोया स्वर्ग शीष धर जिस पर,

तुम भारत के शाश्वत गौरव
प्रहरी से जागरित निरंतर !

रवि की किरणें जिसे स्पर्श कर
हो उठती आलोक निनादित,
जिस पर ऊषा संध्या की छवि
आदि सृष्टि सी ही स्वर्णांकित !

इन्दु स्फीत तुम स्फटिक धवलिमा
के क्षीरोदधि से हिल्लोलित
ज्योत्स्ना मे थे स्वप्न मौन
अप्सरा लोक से लगते मोहित !

नवल प्रवालों की रत्नश्री
अहरह रहती जहाँ मर्मरित,
देवदारु की चारु सूचियो से
प्रिय तलहटियाँ रोमांचित !
ंग रूप से रहित वहाँ तुम
चिर दिगंत स्मिति से थे शोभित,
आदि तत्व से, अपनी ही शोभा
विलोक मानो अनिमेपित !

नीली छायाएँ थी तन पर
लगतीं आभा की सी सिकुड़न,
इद्र किरण मंडल से दीपित
उड़ते थे शत हँसमुख हिमकण !

स्वर्दूतों के पंखों से घिर
तड़ित चकित हिम के रोमिल घन
रंगों से वेष्टित रखते थे
तुमको हे आलोक निरंजन !

प्रति वत्सर आती थी मधुऋतु
सद्यःस्फुट देही ले कुसुमित
चीर रश्मियो को, फूलों के
अंगों मे निज कर शत रंजित !
खुलती पंखड़ियों की कंचुक
सौरभ श्वासों से थी स्पंदित,
मेरे शैशव को नित उसकी
गीत कोकिला रखती कूजित !

कलरव, स्वप्नातप, सुरधनु पट,
शशिमुख, हिमस्मिति, गात्र ले श्वसित,
षड्ऋतु देती थी परिक्रमा
अप्सरियों सी सुरपति प्रेषित !
शरद चंद्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृंगों पर विजड़ित,
हिम की परियों का अंचल उड़
जग को कर लेता था परिवृत !

रंग रंग के चित्रित पक्षी
उड़ते नभ में गीत तरंगित,

नील पीत भृंगों का गुंजन
मौन क्षणों को करता मुखरित !
ऊष्मा का सूर्यातप तुम मे
लगता शीतलता सा मूर्तित,
इन्द्रचाप पुल पर, वर्षा मे,
सुरबालाएँ आ जाती नित !

जग, प्रच्छाय गुहाओं मे,
वाष्पो के गज भरते नव गर्जन,
चचल विद्युत् लेखाएँ थी
लिपट दृगों से जाती तत्क्षण !
ताराओ के साथ सहज
शैशव स्वप्नों से भर जाता मन,
उठते थे तुम अतर मे
सौन्दर्य स्वप्न शृंगों पर मोहन !

मेघों की छाया के सँग सँग
हरित घाटियाँ चलती प्रतिक्षण,
वन के भीतर चित्र तितलियों का
उड़ता फूलों का सा वन !
रँग रँग के उपलों पर रणमरण
उछल उत्स करते कल गायन,
झरनो के स्वर जम से जाते
रजत हिमानी सूत्रो मे घन !

भीम विशाल शिलाओं का
वह मौन हृदय मे अब तक अंकित,
फेनों के जल स्तंभों से वे
निर्झर रभस वेग से मुखरित!
चीड़ों के तरु वन का तम
साँसें भरता मन मे आंदोलित,
दरियों की गहरी छायाएँ
ज्योतिरिंगणों से थीं गुंफित!
गाते उर मे क्षिप्र स्रोत,
लहराते सर तुषार के निर्मल,
सौरभ की गुंजित अलकों से
छू समीर, उर करता शीतल!
नीली पीली हरी लाल
चपलाओं का नभ जगता चंचल,
रजत कुहासे मे, क्षण मे,
माया प्रांतर हो जाता ओझल!

संभव, पुरा तुम्हारी द्रोणी
किन्नर मिथुनों से हो कूजित,
छाया निभृत गुहाएँ उन्मद
रति की सौरभ से समुच्छ्वसित!
ओषधियाँ जल जल दरियों के
स्वप्न कक्ष करती हों दीपित,

ओसों के वन मे मिलते हों
स्तन हारों के मुक्ताफल स्मित !

मदन दहन की भस्म अनिल मे
उड़, अब तक तन करती पुलकित,
सती अपर्णा के तप से
वन श्री अवाक् सी लगती विस्मित !
अब भी ऊषा वहाँ दीखती
वधू उमा के मुख सी लज्जित,
बढ़ती चंद्र कला भी गिरिजा सी
ही गिरि के क्रोड़ मे उदित !

अब भी वही वसंत विचरता
पुष्प शरों से भर दिगंत स्मित,
गवोद्दाम धरा वह ही, पाषाण
शिलाएँ पुलक पल्लवित !
अब भी प्रिय गौरा का शैशव
वर्णन करते खग पिक मुखरित,
देवदारु के पुण्य शिखर
वैसे ही शंकर से समाधि स्थित !

अभी उतरता कूर्म सानु पर
वप्र क्रीड़ा परिणत गज घन
वातायन से मद स्तनित कर
देता कवि सदेश आर्द्र स्वन !

अब भी अलकें उठा देखती
ग्राम वधू उसको सरल नयन,
शुभ्र बलाकों के दल नभ मे
कल ध्वनि भर करते अभिवादन !

  

आज जीवनोदधि के तट पर
खड़ा अवांछित, क्षुब्ध, उपेक्षित,
देख रहा मै क्षुद्र अहम् की
शिखर लहरियों का रण कुत्सित !
सोच रहा, किसके गौरव से
मेरा यह अंतर जग निर्मित,
लगता तब, हें प्रिय हिमाद्रि,
तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित !

और, पूछता मैं मन से, क्या
यह धरती रह सकती जीवित
जो तुम स्वर्गिक गरिमा भू पर
बरसाते रहते न अपरिमित !
शिखर शिखर ऊपर उठ तुमने
मानव आत्मा कर दी ज्योतित,
है असीम आत्मानुभूति मे
लीन ज्योति शृंगों के भूभृत् !

घनीभूत अध्यात्म तत्व से,
जिससे ज्योति सरित शत निःसृत
प्राणों की हरियाली में स्मित
पृथ्वी तुमसे महिमा मंडित !
सग सौध में चिर शोभा के
नाग दत शृंगों से कल्पित,
स्वर्ग खंड तुम इस वसुधा पर,
पुण्य तीर्थ हे देव प्रतिष्ठित !

—'स्वर्ण किरण' से

आह्वान

बरसो हे घन !

निष्फल है यह नीरव गर्जन,
चंचल विद्युत् प्रतिभा के क्षण,
बरसो उर्वर जीवन के कण,
हास अश्रु की झड़ से धो दो
मेरा मनो विषाद गगन !
बरसो हे घन !

हँसूँ कि रोऊँ, नही जानता,
मन कुछ माने नहीं मानता,
मै जीवन हठ नही ठानता,
होती जो श्रद्धा न गहन,
बरसो हे घन !

शशि मुख प्राणित नील गगन था,
भीतर से आलोकित मन था,
उर का प्रति स्पंदन चेतन था,
तुम थे, यदि था विरह मिलन,
बरसो हे घन !

अब भीतर संशय का तम है,
बाहर मृग तृष्णा का भ्रम है,
क्या यह नव जीवन उपक्रम है,
होगी पुनः शिला चेतन ?
बरसो हे घन !

आशा का प्लावन बन बरसो,
नव सौन्दर्य प्रेम बन सरसो,
प्राणों मे प्रतीति बन हरसो,
अमर चेतना बन नूतन,
बरसो हे घन !

—'स्वर्ण धूलि' मे

सार्थकता

वसुधा के सागर से
उठता जो वाष्प भार
बरसता न वसुधा पर
बन उर्वर वृष्टि धार,
सार्थक होता ?

तूने जो दिया मुझे
अमर चेतना का दान
तेरी ओर मेरा प्यार
होता न धावमान
सार्थक होता ?

घुमड़ता छायाकाश,
गरजता अंधकार
मृत्यु बाहुओं में बँधी
चेतना करती पुकार
सार्थक होता ?

मर्त्य रहे, स्वर्ग रहे,
सृष्टि का आवागमन,
प्राणों में बना रहे
तेरा चिर रहस मिलन,
जीवन सार्थक होगा !

—'स्वर्ण धूलि' में

भावोन्मेष

पुष्प वृष्टि हो,
नव जीवन सौन्दर्य सृष्टि हो,
जो प्रकाश वर्षिणी दृष्टि हो!

लहरों पर लोटे नव लहरें
लाड़ प्यार की, पागलपन की,
नव जीवन की, नव यौवन की!

मोती की फुहार सी छहरें
प्राणों के सुख की, भावों की,
सहज सुरुचि की, चित चावों की!

इन्द्रधनुष सी आभा फहरे
स्वप्नों की, सौन्दर्य सृजन की,
आशा की, नव प्रणय मिलन की!
लहरों पर लोटें नव लहरें!

कूक उठे प्राणों मे कोयल!
नव्य मंजरित हो जन जीवन,
नवल पल्लवित जग के दिशि क्षण,
नव कुसुमित मानव के तन मन!

वहे मलय साँसों मे चचल !
जीवन के वंधन खुल जाएँ,
मनुजों के तन मन घुल जाएँ,
जन आदर्शो पर तुल जाएँ,
खिले धरा पर जीवन शतदल,
कूक उठे फिर कोयल !

युग प्रभात हो अभिनव !
सत्य निखिल वन जाय कल्पना,
मिथ्या जग की मिटे जल्पना,
कला धरा पर रचे अल्पना,

रुके युगों का जन रव !
प्रीति प्रतीति भरे हो अतर,
विनय स्नेह सहृदयता के सर,
जीवन स्वप्नो से दृग सुन्दर,
सव कुछ हो फिर संभव !

जाति पाँति की कड़ियाँ टूटे,
मोह द्रोह मद मत्सर छूटें,
जीवन के नव निर्झर फूटें,

वैभव वने, पराभव,
युग प्रभात हो अभिनव !

—'स्वर्ण धूलि' से

प्राणाकांक्षा

बज पायल छम
छम छम !
उर की कंपन में निर्मम
बज पायल छम
छम छम !

हृदय रक्त रंजित सुंदर
नृत्य मुग्ध प्रिय चरणों पर
प्राणों की स्वर्णाकांक्षा सम
प्रणयजड़ित, चंचल, निरुपम,
बज पायल छम
छम छम !

उद्वेलित हो जब अंतर
व्यथा लहरियों पर पग धर,
जीवन की गति लय से अक्लम
पद उन्मद, मत थम, मत थम,
बज पायल छम
छम छम !

—'स्वर्ण धूलि' से.

मर्म कथा

बाँध दिए क्यों प्राण
प्राणों से !
तुमने चिर अनजान
प्राणों से !

गोपन रह न सकेगी
अब यह मर्म कथा,
प्राणों की न रुकेगी
बढ़ती विरह व्यथा,

विवश, फूटते गान,
प्राणों से !

यह विदेह प्राणों का बंधन,
अंतर्ज्वाला में तपता तन !
मुग्ध हृदय, सौन्दर्य ज्योति को
दग्ध कामना करता अर्पण !

नहीं चाहता जो कुछ भी आदान
प्राणों से !
बाँध दिए क्यों प्राण
प्राणों से !

—'स्वर्ण धूलि' से

प्रणाम

श्री अरविन्द, सभक्ति प्रणाम !
स्वर्मानस के ज्योतित सरसिज,
दिव्य जगत जीवन के वर द्विज,
चिदानंद के स्वर्गिम मनसिज,
ज्योति धाम,
सज्ञान प्रणाम !

विश्वात्मा के नव विकास तुम,
परम चेतना के प्रकाश तुम,
ज्ञान भक्ति श्री के विलास तुम,
पूर्ण प्रकाम,
सकर्म प्रणाम !

दिव्य तुम्हारा परम तपोबल
अमृत ज्योति से भर दे भूतल,
सफल मनोरथ सृष्टि हो सकल,
श्री ललाम,
निष्काम प्रणाम !

—'स्वर्ण धूलि' से

आवाहन

आओ हे, पावन हो भूतल !

फिर धर्म ग्लानि से पीड़ित जग,
फिर नग्न वासना उच्छृंखल,
जन परित्राण करने उतरो,
हे राम, परम निर्बल के बल !

फिर हुई अहल्या मनोभूमि,
चेतना, शिला सी जड निश्चल,
फिर मानवीय बन कर निखरे
भू शाप मुक्त हो, छू पदतल !

फिर जीर्ण हुआ युग चाप आज,
फिर वीर विहीन मही अंचल,
तुम वरो धरा चेतना पुनः
यह विश्व क्रांति का संकट पल !

लो, बनी विमाता पुनः कुमति,
वनवासी सत्य, गृही अब छल,

फिर भौतिक मद का कंचन मृग
मोहित करता जन मन दुर्बल !

वह भस्म रेख, यह नाग छोर,
फिर साधु वेश धर हँसता खल,
श्री हीन हृदय की पंचवटी,
हृत लोक चेतना, विश्व विकल !

श्रद्धा जटायु सी पंख कटी,
दो मुक्ति उसे, हे जन वत्सल,
आश्वस्त प्रणत को करो पुनः
निर्ममता के वाली को दल !

उद्वेलित भव जीवन वारिधि,
दुस्तर, अशांत : जन मन विह्वल,
फिर बाँधो नव चेतना सेतु
हो पार सत्य की सैन्य सकल !
लक्ष्मण सा ही अब शक्ति क्षात
विश्वास मर्म आहत, निर्बल,
संजीवन दो फिर मूर्छित को
हनुमत् सी प्राणद शक्ति अचल !

अह, मेघनाद सा गर्जन भर
अणु त्रास कँपाता अंतस्तल,

2002

तज कुंभ कर्ण सी युग निद्रा
जन अहं श्रृंग मद जाए ढल !

दश शीष उठाए घृणा घोर,
जलता उर उर में द्वेषानल,
फिर उसे परास्त करो मन मे
जन जीवन हो संयुक्त, सफल !

वैदेही सी हो विरह मुक्त
चेतना, चूम प्रिय चरण कमल,
फिर राज्यारोहण करो, राम,
हृदयासन में, हो जन मंगल !

—'युगपथ' से

भारत गीत

जय जन भारत, जन मन अभिमत
जन गण तंत्र विधाता !
गौरव भाल हिमालय उज्वल
हृदय हार, गंगा जल,
कटि विन्ध्याचल, सिन्धु चरण तल
महिमा शाश्वत गाता !

हरे खेत लहरे नद निर्झर
जीवन शोभा उर्वर,
विश्व कर्म रत कोटि बाहु कर
अगणित पद ध्रुव पथ पर !

प्रथम सभ्यता ज्ञाता, साम ध्वनित गुण गाथा,
जय नव मानवता निर्माता
सत्य अहिंसा दाता !
जय हे जय हे जय हे, शांति अधिष्ठाता !
जन गण तंत्र विधाता !

प्रयाण तूर्य बज उठे
पटह तुमुल गरज उठे
विशाल सत्य सैन्य, लौह भुज उठे।
शक्ति स्वरूपिणि बहुबल धारिणि वंदित भारत माता!
धर्म चक्र रक्षित तिरंग ध्वज अपराजित फहराता!
जय हे जय हे जय हे, अभय, अजय, त्राता!
जन गण तंत्र विधाता!

—'युगपथ' से

श्रद्धा के फूल

अंतर्धान हुआ फिर देव विचर धरती पर,
स्वर्ग रुधिर से मर्त्यलोक की रज को रँगकर !
टूट गया तारा, अंतिम आभा का दे वर,
जीर्ण जाति मन के खँडहर का अंधकार हर !

अंतर्मुख हो गई चेतना दिव्य अनामय
मानस लहरों पर शतदल सी हँस ज्योतिर्मय !
मनुजों में मिल गया आज मनुजों का मानव
चिर पुराण को बना आत्मबल से चिर अभिनव

आओ, हम उसको श्रद्धांजलि दे देवोचित,
जीवन सुंदरता का घट मृत को कर अर्पित,
मंगलप्रद हो देवमृत्यु यह हृदय विदारक
नव भारत हो बापू का चिर जीवित स्मारक !

बापू की चेतना बने पिक का नव कूजन,
बापू की चेतना वसंत बखेरे नूतन !

—'युगपथ' से

अमर स्पर्श

खिल उठा हृदय,
पा स्पर्श तुम्हारा अमृत अभय !
खुल गए साधना के बंधन,
संगीत बना, उर का रोदन,
अब प्रीति द्रवित प्राणों का पण,
सीमाएँ अमिट हुईं सब लय,

क्यों रहे न जीवन मे सुख दुख,
क्यों जन्म मृत्यु से चित्त विमुख ?
तुम रहो दृगों के जो सन्मुख
प्रिय हो मुझको भ्रम भय संशय !

तन मे आएँ शैशव यौवन
मन में हों विरह मिलन के व्रण,
युग स्थितियों से प्रेरित जीवन,
उर रहे प्रीति मे चिर तन्मय !

जो नित्य अनित्य जगत का क्रम
वह रहे, न कुछ बदले, हो कम,

हो प्रगति ह्रास का भी विभ्रम,
जग से परिचय, तुमसे परिणय !

तुम सुंदर से बन अति सुंदर
आओ अंतर में अंतर तर,
तुम विजयी जो, प्रिय, हो मुझ पर
वरदान, पराजय हो निश्चय !

—'युगपथ' से

जगत घन

जब जब घिरे जगत घन मुझ पर
करूँ तुम्हारा चिन्तन,
ढँक जावे जब अंतर्नभ मे
करूँ प्रतीक्षा गोपन !

जब तम की छाया गहरावे,
मानस मे संशय लहरावे
युग विषाद का भार वहन कर
तुम्हें पुकारूँ प्रतिक्षण !

तुम तम का आवरण उठाओ
करुणा कोमल मुख दिखलाओ,
मेरे भू मन की छाया को
निज उर में कर धारण !

तुम्हें करूँ जन मन दुख अर्पण,
आत्म दान दे भरूँ धरा व्रण,
भू विषाद गर्जन से, उर मे
बरसें नव चेतन कण !

जो बाहर जीवन संघर्षण,
जो भीतर कटु पीड़ा का क्षण,
वह तुममे संतुलन ग्रहण कर
बने उन्नयन नूतन !

—'उत्तरा' से

रंग मंगल

आज रँगो फिर जन जन का मन !
नवल होलिके, नव शोभा से
रँगो पुनः भारत का यौवन !

नव पल्लव से रँगो दिगंचल,
रंग ज्वाल से फूलों के पल,
रंग भरे लोचन-आनन से
रँगो सकल गृह के वातायन !

गूँजे रग ध्वनित भू गायन,
उमड़े रँग रँग के सौरभ घन,
नव स्वप्नों की रंग वृष्टि से
रँग जाए धरणी का जीवन !

रँगो प्रीति से घृणा - द्वेष - रण,
न प्रतीति से कटुता के क्षण,
जीवन-सुंदरता के रँग से
पंकिल हो जन भू का प्रांगण !

—'उत्तरा' से.

विजय

मैं चिर श्रद्धा लेकर आई
वह साध बनी प्रिय परिचय में,
मैं भक्ति हृदय में भर लाई,
वह प्रीति बनी उर परिणय में।

जिज्ञासा से था आकुल मन
वह मिटी, हुई कब तन्मय मैं,
विश्वास माँगती थी प्रतिक्षण
आधार पा गई निश्चय मैं!

प्राणों की तृष्णा हुई लीन
स्वप्नों के गोपन संचय में,
संशय भय मोह विषाद हीन
तेरी करुणा में निर्भय मैं!

लज्जा जाने कब बनी मान,
अधिकार मिला कब अनुनय में,
पूजन आराधन बने गान
कैसे, कब? करती विस्मय मैं!

उर करुणा के हित था कातर
सम्मान पा गई अक्षय मै,
पापों अभिशापों की थी घर
वरदान बनी मंगलमय मै !

बाँधा विरोध अनुकूल बने
अंतर्चेतन अरुणोदय में,
पथ शूल विहँस मृदु फूल बने
मैं विजयी प्रिय, तेरी जय में !

—'उत्तरा' से

गीत विहग

मै नव मानवता का सदेश सुनाता,
स्वाधीन देश की गौरव गाथा गाता,
मै मन: क्षितिज के पार मौन शाश्वत की
प्रज्वलित भूमि का ज्योतिवाह् बन आता !

युग के खँडहर पर डाल सुनहली छाया
मैं नव प्रभात के नभ मे उठ, मुसकाता,
जीवन पतझर मे जन मन की डालो पर
मैं नव मधु के ज्वाला पल्लव सुलगाता !

आवेशो से उद्वेलित जन सागर मे
नव स्वप्नों के शिखरों का ज्वार उठाता,
जब शिशिर क्रांत बन-रोदन करता भू-मन,
युग पिक बन प्राणों का पावक बरसाता।

मिट्टी के पैरों से भव-क्लांत जनों को
स्वप्नों के चरणों पर चलना सिखलाता,
तापो की छाया से कलुपित अनर को
उन्मुक्त प्रकृति का शोभा वक्ष दिखाता।

जीवन मन के भेदों में सोई मति को
मै आत्म एकता मे अनिमेष जगाता;
तम-पंगु, बहिर्मुख जग में बिखरे मन को
मै अंतर सोपानों पर ऊर्ध्व चढ़ाता !

आदर्शों के मरु जल से दग्ध मृगों को
मैं स्वर्गंगा स्मित अंतर्पंथ बतलाता,
जन जन को नव मानवता में जाग्रत कर
मै मुक्त कंठ जीवन रण शंख बजाता !

मै गीत विहग, निज-मर्त्य नीड़ से उड़ कर
चेतना गगन में मन के पर फैलाता,
मै अपने अंतर का प्रकाश बरसा कर
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता।

मैं स्वर्दूतों को बाँध मनोभावों मे
जन जीवन का नित उनको अंग बनाता,
मैं मानव प्रेमी, नव भू स्वर्ग बसा कर
जन धरणी पर देवों का विभव लुटाता।

मै जन्म मरण के द्वारों से बाहर कर
मानव को उसका अमरासन दे जाता,
मै दिव्य चेतना का संदेश सुनाता,
स्वाधीन भूमि का नव्य जागरण गाता।

—'उत्तरा' से

कौए बतखें मेंढक

कहाँ मढ़ा लाए सोने से अपनी चोंचे,
सारे कौए, प्यारे कौए,
कहाँ मढ़ा लाए सोने से अपनी चोंचे !

कौन सँदेसा लाए घर-घर,
कौन सगुन, स्वर, कौन अतिथि वर,
काले पंखों के झुटपुट से
मन के रीते आँगन को भर !

कहाँ मढ़ा लाए सोने से अपनी चोंचें,
प्यारे कौए, न्यारे कौए,
कहाँ मढा लाए सोने से अपनी चोंचें !
पौ फट गई ! सुनहला युग क्षण, —आओ, सोचें !

कहाँ जड़ा लाईं हीरों से अपनी पाँखें !
गोरी बतखें, भूरी बतखें,
कहाँ जड़ा लाईं हीरों से अपनी पाँखें !

कौन झील, कैसा चेतन जल,
जहाँ खिला वह स्वर्ण कमल दल,
पाप पंक में रहने वाली
कहाँ पा गई पुण्य तेज बल !
कहाँ जड़ा लाईं हीरों से अपनी पाँखे,
गोरी भोरी, भूरी बतखें,
कहाँ जड़ा लाईं हीरों से अपनी पाँखें !
नई दृष्टि यह ! पाप पुण्य फल ?—खोलो आँखें !

कहाँ गढ़ा लाए कंठों मे वीणा के स्वर,
ये पीले मटमैले मेढक,
कहाँ गढ़ा लाए कंठों मे वीणा के स्वर ?

भू का उपचेतन आवाहन
उत्कंठित करता रह रह मन,
कौन साध, किन श्रवणों के हित
करती क्या गोपन संभाषण ?
कहाँ गढ़ा लाए कंठों मे वीणा के स्वर,
पीले, हरे, मटैले मेढक,
कहाँ गढ़ा लाए कंठों मे वीणा के स्वर,—
प्रेम तत्व यह ! सृजनातुर अगजग का अंतर !

—'अतिमा' से

प्रकाश, पंतिगे, छिपकलियाँ

वह प्रकाश, वे मुग्ध पतिंगे,
ये भूखी, लोभी छिपकलियाँ,
प्रीति शिखा, उत्सर्ग मौन,
स्वार्थों की अंधी चलती गलियाँ !

वह आकर्षण, वे मिलनातुर,
ये चुपके छिप घात लगाती,
आत्मोज्वल वह, विरह दग्ध वे,
ये ललचा, धीरे रिरियाती !

ऊर्ध्व प्राण वह, चपल पंख वे,
रेंग पेट के बल ये चलती,—
इनके पर जमते तो क्या ये
आत्म त्याग के लिए मचलती ?

छिः, फलाँग भर ये, निरीह
लघु शलभों को खाते न अघाती,
नोच सुनहले पंख निगलती,—
दीपक लौ पर क्या बलि जाती ?

उच्च उड़ान नही भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर,

महत् कर्म के लिए चाहिए
महत् प्रेरणा बल भी भीतर !

पर, प्रकाश, प्रेमी पतंग या
छिपकलियाँ केवल प्रतीक भर,
ये प्रवृत्तियाँ भू मानव की,
इन्हे समझ लेना श्रेयस्कर !

ये आत्मा, मन, देह रूप हैं,
साथ साथ जो जग मे रहते,
शिखा आत्म स्थित, ज्योति स्पर्श हित
अंध शलभ तपते, दुँख सहते !

पर, प्रकाश से दूर, विरत,
छिपकली साधती कार्य स्वार्थ रत,
ऊपर लटक, सरकती औंधी,
कठिन साधना उसकी अविरत !

उदर देह को भरना, जिससे
मन पंखों पर उड़, उठ पाए,
आत्म लीन रहकर प्रकाश को

तुच्छ सरट से उच्च ज्योति तक
एक सृष्टि सोपान निरंतर,
जटिल जगत्, गति गूढ़, मुक्त चिति,
तीनों सत्य,—व्याप्त जगदीश्वर !

—'प्रतिमा' से

आः धरती कितना देती है !

मैने छुटपन मे छिपकर पैसे बोए थे,
सोचा था, पैसों के प्यारे पेड़ उगेंगे,
रुपयों की कलदार मधुर फ़सलें खनकेंगी,
और, फूल फल कर, मै मोटा सेठ बनूँगा !

पर बंजर धरती में एक न अंकुर फूटा,
बंध्या मिट्टी ने न एक भी पैसा उगला !
सपने जाने कहाँ मिटे, कब धूल हो गए !
मैं हताश हो, बाट जोहता रहा दिनों तक,
बाल कल्पना के अपलक पाँवड़े बिछाकर !
मै अबोध था, मैंने ग़लत बीज बोए थे,
ममता को रोपा था, तृष्णा को सींचा था !

अर्धशती हहराती निकल गई है तब से !
कितने ही मधु पतझर बीत गए अनजाने,
ग्रीष्म तपे, वर्षा झूलीं, शरदें मुसकाईं,
सी सी कर हेमंत कँपे, तरु झरे, खिले वन !

औ' जब फिर से गाढ़ी ऊदी लालसा लिए,
गहरे कजरारे बादल बरसे धरती पर।
मैंने, कौतूहल वश, आँगन के कोने की
गीली तह को यों ही उँगली से सहलाकर
बीज सेम के दबा दिए मिट्टी के नीचे!
भू के अंचल मे मणि माणिक बाँध दिए हो!

मै फिर भूल गया इस छोटी सी घटना को,
और बात भी क्या थी, याद जिसे रखता मन!
किन्तु, एक दिन, जब मै संध्या को आँगन मे
टहल रहा था,—तब सहसा मैंने जो देखा,
उससे हर्ष विमूढ़ हो उठा मै विस्मय से!

देखा, आँगन के कोने मे कई नवागत
छोटी छोटी छाता ताने खडे हुए है!
छाता कहूँ कि विजय पताकाएँ जीवन की,
या हथेलियाँ खोले थे वे नन्ही, प्यारी,—
जो भी हो, वे हरे हरे उल्लास से भरे
पख मार कर उड़ने को उत्सुक लगते थे,
डिम्ब तोड़ कर निकले चिड़ियो के बच्चो-से!

निर्निमेष, क्षण भर, मै उनको रहा देखता,—
सहसा मुझे स्मरण हो आया,—कुछ दिन पहिले,

बीज सेम के रोपे थे मैने आँगन में,
और उन्हीं से बौने पौधों की यह पलटन
मेरी आँखों के सम्मुख अब खड़ी गर्व से,
नन्हे नाटे पैर पटक, बढ़ती जाती है!

तब से उनको रहा देखता,—धीरे धीरे
अनगिनती पत्तों से लद भर गई झाड़ियाँ,
हरे भरे टँग गए कई मखमली चँदोवे!
बेलें फैल गई बल खा, आँगन में लहरा,—
और सहारा लेकर बाड़े की टट्टी का
हरे हरे सौ झरने फूट पड़े ऊपर को!
मै अवाक् रह गया वंश कैसे बढ़ता है!

छोटे, तारों-से छितरे, फूलों के छींटे
झागों-से लिपटे लहरी-श्यामल लतरों पर
सुंदर लगते थे, मावस के हँसमुख नभ-से,
चोटी के मोती-से, आँचल के बूँटों-से!

ओह, समय पर उनमें कितनी फलियाँ टूटी!
कितनी सारी फलियाँ, कितनी प्यारी फलियाँ,
पतली चौड़ी फलियाँ—उफ़, उनकी क्या गिनती!
लंबी लंबी अंगुलियों सी, नन्ही नन्हीं
तलवारों सी, पन्ने के प्यारे हारों सी,
झूठ न समझें, चंद्र कलाओं सी नित बढ़ती,

सच्चे मोती की लड़ियों सी, ढेर ढेर खिल,
झुंड झुंड झिलमिल कर कचपचिया तारों सी !

आः, इतनी फलियाँ टूटी, जाड़ो भर खाईं,
सुबह शाम घर घर मे पकी, पड़ोस पास के
जाने अनजाने सब लोगो मे बँटवाई,
बंधु बांधवों, मित्रों, अभ्यागत, मँगतों ने,
जी भरभर दिन रात मुहल्ले भर ने खाईं !
कितनी सारी फलियाँ, कितनी प्यारी फलियाँ !

यह धरती कितना देती है ! धरती माता
कितना देती है अपने प्यारे पुत्रों को !
नही समझ पाया था मैं उसके महत्व को !
बचपन मे, छिः, स्वार्थ लोभ वश पैसे बोकर !

रत्न प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूँ !
इसमे सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने है,
इसमे मानव ममता के दाने बोने है,
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फसले
मानवता की—जीवन श्रम से हँसें दिशाएँ !
हम जैसा बोएँगे वैसा ही पाएँगे !

—'ग्रतिमा' से

संदेश

मैं खोया खोया सा, उचाट मन, जाने कब
सो गया, तख़्त पर लुढ़क, अलस दोपहरी मे,
दुःस्वप्नों की छाया से पीड़ित, देर तलक
उपचेतन की गहरी निद्रा में रहा मग्न !

जब सहसा आँख खुली तो मेरी छाती पर
था असंतोष का भारी रीता बोझ जमा !
मन को कचोटती थी उधेड़बुन जाने क्या,
अज्ञात हृदय मंथन सा चलता था भीतर,—
अवसाद घुमड़ता था उर में कड़ुवा, फीका !
सब अस्तव्यस्त विशृंखल लगता था जीवन,—
मेरा कमरा हो परिचित कमरा नहीं रहा,
जी ऊब ऊब उठता था, मन बैठा जाता !

मै सोच रहा था, जाने क्या हो गया मुझे,
मन किन अनजानी डगरों में है भटक गया,
कितने अँधियारे कोने है मानव मन के !
कुछ किए नहीं बनता, दिन यों ही बीत रहे,

पानी सी बहती आयु कभी क्या लौटेगी ?
इस निरुद्देश्य जीवन से किसको लाभ भला ?
भू भार बने रहने से तो मरना अच्छा !

इतने मे मेरी दृष्टि फर्श पर जा अटकी,
जिस पर जाड़े की चिट्टी, ढलती, नरम धूप
खिड़की की चौखट को कुछ लंबी तिरछी कर
थी चमक रही टूटे दर्पण के टुकड़े सी,—
पिघली चाँदी के थक्के सी छलकी चौड़ी!
जाजिम पर थी बन गई तलैया मोती की,
जिसमे स्वप्नों की ज्वालाएँ लहराती थी!
दूधिया भावना मे उफान उठ आया हो!

मैं क्षण भर मे मन के विषाद को भूल गया,
वह धूप स्निग्ध चेतना स्पर्श सी लगी मुझे—
ज्यों राजहंस उतरा हो खिड़की के पथ से!
मेरा मन दुविधा मुक्त हो गया, दुःख भूल,
घन के घेरे से निकल चाँद हँस उठता ज्यों!
वह मौन नीलिमा निलयों मे बसनेवाली,
रुपहली घनो की अलके सहलानेवाली,
वह सूर्यमुखी किरणों की परियों से वाहित
सुकुमार सरोरुह-से स्तनवाली सलज धूप!—
वह रजत पसारों मे स्वर्णिम अँगड़ाई भर
ऊषा की स्वप्निल पलकों पर जगनेवाली,

वह हेम हंस पंखों पर नित उड़ने वाली
गोरी ग्रीवा बाँहों वाली चंपई धूप !—
वह तुहिन वाष्प के धूपछाँह बल्कल पहनी
सौरभ मरंद तन वाली, मलयज सनी धूप,
वह फूलों के मृदु मुखड़ों पर हँसने वाली
नीले ढालों पर सोने वाली सुघर धूप !—
वह हरी दूब के पाँवड़ पर चलने वाली
रेशमी लहरियों बीच बिछल जाने वाली
वह मुक्ता स्मित सीपी के सतरँग पंख खोल
शत इंद्रधनुष फहराने वाली सजल धूप,—
वह चाँदी की शफरी सी उछल अतल जल से
चमकीला पेट दिखा अकूल के पावक का
मेरे कमरे के तुच्छ पटल पर, धूल भरे
मखमली गलीचे पर, चुपके सहमी बैठी,
मेरे कठोर उर को कृतज्ञता-कोमल कर
सुख द्रवित कर गई, प्रीति मौन संवेदन दे !

मै उसे देख, श्रद्धा संभ्रम से उठ बैठा,
वह मुझे देख स्नेहार्द्र दृष्टि, मुसकुरा उठी !
वह विश्व प्रकृति की दूती बन कर आई थी,—
मैं स्मृति विभोर, स्वप्नस्थ हो उठा कुछ क्षण को
वह मेरे ही भीतर से मुझसे यों बोली :—

"क्या हुआ तुम्हे, ओ जीवन शोभा के गायक,
तुम ज्योति प्रीति आशा के स्वर वरसाते थे !—
उल्लास मधुरिमा, श्री सुषमा के छंद गूँथ
तुम अमरों को कर स्वप्न मूर्त, घर लाते थे !
क्यो आज तुम्हारी वीणा वह नि:स्पंद पड़ी,
क्यों अव पावक के तार न मधु वर्षण करते ?
कल्पना भोर के पछी सी उठ लपटो मे
क्यों नही स्वप्न पंखी उड़ान भरती नभ मे ?

"क्या सोच रहे हो ? उठो, क्षुब्ध मन शात करो,
तुम भी क्या जग की चिन्ता के कर्दम मे सन
सदेह दग्ध, उद्भ्रांत चित्त हो खोज रहे—
'क्या है जीवन का ध्येय, प्रयोजन संसृति का,
सुख दुख क्यो है, मानव क्यो है, या तुम क्यो हो ?

"तुम भी वादो के वेष्टन मे मन को लपेट
मानव जीवन के अमित सत्य का विकृत रूप
गढने को आतुर हो ?—सस्ता संस्करण एक
निर्मित कर उसका, थोथे तर्कों के वल पर ?—
जन सृजन चेतना को, विकास क्रम को अनत
अंजलि पुट मे वंदी करने का साहस कर !"

"या भौतिक मूल्यो की वेदी पर वलि देकर
मानव मूल्यों को, तुम धरती पर नया स्वर्ग

रचने को व्याकुल हो, यंत्रों के चक्रों मे
मानव का हृदय कुचल, लोहे की टापों से ?
अथवा तुम हिंसक स्वार्थो के पंजे फैला
नोचना चाहते जीवन के सुंदर मुख को !!

"तुम भूल गए क्या मातृ प्रकृति को ? तुम जिसके
आँगन में खेले कूदे, जिसके आँचल मे
सोए जागे, रोए गाए, हँस, बड़े हुए !
जो बाल सहचरी रही तुम्हारी, स्वप्न प्रिया,
जो कला मुकुर बन गई तुम्हारे हाथों में,—
तुम स्वप्न धनी हो जिसके बने अमर शिल्पी !

"जिसने कोयल बन सिखलाया तुमको गाना,
मृदु गुंजन भर बतलाया मधु संचय करना,—
फूलों की कोमल बाँहों के आलिंगन भर !
जिसके रंगों की भावुक तूली से तुमने
शोभा के पदतल रँगे, मनुज का मुख आँका,
जिससे लेकर मधु स्पर्श शब्द रस गंध दृष्टि
तुमने स्वर निर्झर बरसाए सुख से मुखरित !

"अब जन नगरों की अंधी गलियों मे खोए,
ऊँचे भवनों की काराओं मे वंदी हो,
तुम अपनी ही चिन्ता में घुलते जाते हो !
क्या लोक मान मर्यादा की पा स्थूल दृष्टि
निज सूक्ष्म स्वप्नदर्शी दृग तुमने मूँद लिए ?

"लो, मै असीम का लाई हूँ संदेश तुम्हें !
आओ, फिर खुली प्रकृति की गोदी में बैठो,
फिर दिक् प्रसन्न जीवन के आँगन में खेलो,—
उद्देश्यहीन भी रहना जहाँ मधुर लगता !
फिर स्वप्न चरण धर विचरो शाश्वत के पथ मे,
कल्पना सेतु बाँधो भावी के क्षितिजो मे !

"मन को विराट् की आत्मा से कर सर्वयुक्त
तुम प्यार करो, सुंदरता से रहना सीखो,—
जो अपने ही मे पूर्ण स्वयं है, लक्ष्य स्वय !
कवि, यही महत्तर ध्येय मनुज के जीवन का !"

मै मन की कुंठित कूप वृत्ति से वाहर हो,
चिन्ताओं के दुर्वाध भँवर से निकल शीघ्र
पाहुन प्रकाश के निरवधि क्षण मे डूव गया,—
सुनहली धूप के करतल के शाश्वत मे लय !
मन के ऊपर उठ, तन की सीमाओं से कढ,
फिर स्वस्थ समग्र, प्रफुल्ल पूर्ण वन, मोह मुक्त,
मै विश्व प्रकृति की महदात्मा मे समा गया !

मुझको प्रसन्न मन देख, धूप सकुचा कुम्हला…
वोली, "अव विदा ! मुझे जाना है !—वह देखो,
किरणे अस्ताचल पर कंचन पालकी लिए
मुझको ठहरी है, क्षितिज रेख का सेतु वाँध !

'युग संध्या यह, अस्तमित एक इतिहास वृत्त,
ढलने को ब्रह्म अहन्, बुझने को कल्प सूर्य,
मुँदने को मानस पद्म,—उदित ज्योतिर्मय कवि,—
घूमता विवर्तन चक्र, आज संक्रांति काल !—

"यदि अंधकार का घोर प्रहर टूटे तुम पर,
तो मुझे स्मरण रखना, यह ज्योति धरोहर लो,—
जब होगी मानस ग्लानि, घिरेगी मोह निशा,
मैं नव प्रकाश संदेशवाह बन आऊँगी,
संध्या पलनों मे झुला सुनहले युग प्रभात !"

यह कह वह अंतर्धान हो गई पल भर में,
सिमटा अपने आभा के अंगों को उर में !

—'अतिमा' से

रूपं देहि

ये भारत के ग्राम निवासी,
क्षुधित देह मन, आँखें प्यासी,—
जीवन वैभव से हों परिचित !
इन्हें रूप दो !

घर घर गीत वसंत गुंजाओ,
इंद्रधनुष ऋतु घन फहराओ,
रंग गंध मधु में नहलाओ,
लोग रहें न अभाव अहि ग्रसित !
इन्हें रूप दो !

बाह्य रूप हो पहिले सुंदर,
जाने जन, जीवन प्रभु का वर,
देखें ईश्वर का मुख बाहर,
छँटे दृष्टि तम ज्योतिर्मंडित !
इन्हें रूप दो !

धुले असुंदरता तन मन कीं,
भय संशय कुठा क्षण क्षण की,
मिटे दमित तृष्णा जीवन की,
पीएँ अंतस् सरित का अमृत !
इन्हें रूप दो !

नगर नरक,—जन कीर्ण अप्राकृत,
ग्राम स्वर्ग हों, संघ विकेन्द्रित,
सरल सौम्य सात्विक जीवन मित,
शिक्षित न हों, लोग हों संस्कृत !
इन्हें रूप दो !

भारत के जन ग्राम निवासी
मनुष्यत्व के हों अभिलाषी,
भू संपद जन श्रम की दासी,—
जीवन रचना हो दिक् कुसुमित !
इन्हे रूप दो !

—'वाणी' से

जयं देहि

ये धरती के नगर विलासी,
क्षुधित हृदय, आकांक्षा प्यासी,
निज आत्मिक निधि से हो परिचित !
इन्हे भाव दो !

अंतर्मुख हो उड़ती चितवन,
निज स्वरूप को पहचाने मन,
स्वच्छ हृदय ईश्वर का दर्पण,
भीतर चित् आनंद भुवन स्थित !
इन्हें भाव दो !

आत्म जयी, भोगे जीवन सुख,
जन समाज का दुख हो निज दुख,
हृदय न हो भू सत्य प्रति विमुख,
ध्येय एक जग जीवन, जन हित !
इन्हे भाव दो !

राष्ट्र वर्ग से निखरे मानव,
जाति वर्ण के क्षय हों दानव,
नव प्रकाश भव का हो अनुभव,
रहे न मन भौतिक तमसा वृत !
इन्हें भाव दो !

सभ्य देश बाहर से संस्कृत,
भीतर बर्बर, आत्म पराजित,
घृणा द्वेष स्पर्धा भय पीड़ित,—
काल दंष्ट्र मे रे ये अणु मृत !
इन्हे भाव दो !

ये धरती के नगर विलासी
जन भू के हों नियति विकासी,
रहें न अंतर्जगत प्रवासी !—
इन्हें भाव दो !

—'वाणी' से

उन्नयन

रहस अचेतन तम की
साँपो की वेणी को
धीरे छूओ, सुलझाओ, खोलो, मन !
युग-युग के शैवाल जाल-से
मानस जल मे छाए तृष्णा के घन !

घनी निशाएँ,—नही दिशाएँ सूझ रही अब,
स्वप्नो के पंखों मे उन्मन
उड़ते अपलक लोचन !
गहन कूप सा, सँकरी बाँबी सा,
निम्नोन्मुख, गुह्य देश यह,
घोर पक मे लिपटा प्राणो का धन !

लो, प्रकाश मणि से भूषित कर साँपो के सिर,
छेड़ो, वीन वजाओ, उन्नत हो फन,
उजियाले हो सकें विलो मे रहने वाले
जड़ अँधियाली के सहस्र फन आनन !

खोलें कुंडल, झाड़ें केंचुल,—
हाथ पैर मारे तम,—गति ही जीवन;
शक्ति भुजंगम जगे,—
ऊर्ध्व गति रीढ़ वंश पर
गमन करे—चैतन्य गगन में
भर प्रकाश के प्लावन!

तम प्रकाश केवल दो गतियाँ,—
भू की वेणी सूँघो, सहलाओ,
धीरे खोलो, मन!
स्वर्ण किरण उतरी गहरे मानस जल-तल में
पंकज मन हो सूर्योन्मुख,—नव चेतन!

घोंघे शंख

(सभी नही) ·

घोंघे, शंख, चाँद के टुकड़े, सीप, कौड़ियाँ…
राज मरालों मे उड़ते
भावों के पर छटपटा
रिक्त कल्पना गगन मे !
घोंघे…शंख…

मोंम, फूल, मेमनों,
मेढकों, वन चूहों की
काव्य सैन्य नव देख
गीदड़ों, चीलों के संग
भाव सहस्रों जलते बुझते
फुलझड़ियों-से मन मे !

रह रह तड़ित् तमक उठती
शत प्रश्न चिह्न जग, गरज
घुमड़ते सिन्धु घूम के गहरे घन मे !
घोंघे…शंख…

जगमग, जगमग,
नव खद्योतों से दीपित मग
प्रतिपग,
जगमग !

बदल गई कविता की सज्जा
रक्त, अस्थि, त्वक्, मज्जा !
बिगड़ गई भावों की धज्जा,
ढीठ दीठ अब, उर में लज्जा !
सूना छज्जा !!

छाया छाँव बनी पछाड़ खा,
कुत्ता लेंडी बना हाड़ खा,
(चूहा शेर बना पहाड़ खा !)
पथ अँधियारा गलियारा बन
भटक गया, खो गहन व्यथा के बन मे,
चंदा के आंगन में !

छायावादी शब्द योजना
ग्राम बोलियों का आँचल गह,
अटपट स्वर तुतला, क्या कुछ कह,
घुटनों बल चल, उठ-गिर रह रह,
फिर प्रवेश करती अनजाने
नव बचपन मे !

छायावादी मुक्त कल्पना
गद्य बद्ध बन गल्प जल्पना,
शाब्दिक रांगोली सँवार कर
फूल बेल बूँटे उतार कर,
अनगिन बिम्बों को उभार कर
रचती नव अल्पना
शारदा के आँगन में !

छायावादी विश्व भावना,
सृजन प्रेरणा,
धरा स्वर्ग सौंदर्य सर्जना
लुप्त हो गई, अति वैयक्तिक, अति यथार्थ बन,
कुंठा के नैराश्य वेदना भरे
अँधेरे अवचेतन में !

कहाँ शब्द संगीत आज ?
(लिखने में लगती लाज !)
छंद तुक के अंकुश से ऊब
(गया हो गज गोपद में डूब !)
अर्थ की लय में श्रवणातीत
हुआ रस मग्न शब्द संगीत !
अलंकरणों से नग्न,
कंठ स्वर कुंठा भग्न !!

कछुए सी मंथर अति मंथर
कवि प्रिया चलती पद-पद पर,
छंद भाव रस को समेट कर
अपने भीतर,
सुदृढ़ पीठ को बना चर्म फर !
जगमग जगमग
ज्योतिरिंगणों से ज्योतित जग
पगपग,
जगमग !

बौद्धिक शिशु मत कहो किसी को !
विश्व प्रकृति से, मानवता से,
जन धरणी से नेह निभाना
(आँख लड़ाना ?)
क्या संभव है ?
क्यों ? संभव है ?
जब सर्वत्र निराशा, कुंठा, अंधकार का
आत्म वेदना, हीन भावना, अहंकार का
उमड़ा जग मे पारिप्लव है !
घोर अनास्था का मन मे मचता विप्लव है !
क्या संभव है ?
बोलो,
क्या संभव है ?

अब उदास मुख लगता सुंदर,
अब विषाद सुख से प्रिय बढ़कर !
आशा के गाने
जन मन अभिलाषा के कर्मठ तर्राने,
सभी मूल्य जाने, अनजाने,
अधपहचाने
आज नही रखते कुछ माने,
नही, नही रखते कुछ माने,
हम कहते, सच जाने !

तभी स्यार भेड़ियो, गिरगिटों, भेड़ों मे जम,
छिपकलियों, बीछियों, केंचुवो, बर्रों मे रम,
जीवन की कल्पना सिसकती
बन कडुवाहट !
घुग्घू घबड़ाते प्रकाश से,
गदुर उलटे लटके रहते,
दिन भर
मुख पर
दे
घूं-
घट
पट !

—'वाणी' से

वाचाल

'मोर को
मार्जार-रव क्यो कहते है मा ?'

'वह बिल्ली की तरह बोलता है,
इसलिए !'

'कुत्ते की तरह बोलता
तो बात भी थी !
कैसा भूँकता है कुत्ता,
मुहल्ला गूँज उठता है,
भौ - भौ !'

'चुप रह !'

'क्यों मा ?
बिल्ली बोलती है
जैसे भीख माँगती हो,
म्यॉउ, म्याँउ !
चापलूस कहीं की !
वह कुत्ते की तरहं

पूंछ भी तो नहीं हिलाती'—
'पागल कहीं का !'
'मोर मुझे फूटी आँख नही भाता
कौए अच्छे लगते हैं !

'बेवकूफ !'

'तुम नही जानती, मा,
कौए कितने मिलनसार
कितने साधारण होते हैं !
घर घर,
आँगन, मुंडेर पर बैठे
दिन रात रटते है
का, खा, गा ..
जैसे पाठशाला मे पढ़ते हों !'

'तब तू कौओं की ही
पाँत मे बैठा कर !'

'क्यों नही, मा,
एक ही आँख को उलट पलट
सबको समान दृष्टि से देखते है !
और फिर,
बहुमत भी तो उन्ही का है, मा !'
'बातूनी !'

—'कला और बूढ़ा चाँद' से

मूर्धन्य

ओ इस्पात के सत्य,
मनुष्य की नाड़ियों में बह,
उसके पैरों तले बिछ,
लोहे की टोपी बन
उसके सिर पर मत चढ़ !
सिर पर
फूलों का ही मुकुट
शोभा देता है !

स्वप्नों से घर की नींव
पड़ सकती है,
इस्पात
गला कर
नहीं पिया जा सकता !
फूल ही पात्र हैं
जिनसे मधु पिया जाता है !

मै ही हूँ वह मधु
जिसे प्रकृति ने

असंख्य फूलों से चुना है!
जिसमे सभी आकाशों का
सुनहरा मरंद है!
ओ इस्पात के तथ्य
मै तेरा जूता पहन
दृढ़ संकल्प के चरण
वढाऊँगा,—

पर तुझे
मूर्धन्य स्थान
नही दे सकता!
तू साधन रह,
साध्य न बन!

—'कला और बूढा चांद' से

दंतकथा

पुरानी ही दुनिया अच्छी
पुरानी ही दुनिया !

नदी में कमल बह रहे—
        कहाँ से आ रहे ?

किनारे किनारे
स्रोत की ओर
        जाते···जाते···देखा,

नदी के बीच
        रंगीन भँवर पड़ा है;
उसी से फुहार की तरह
        कमल बरस रहे हैं !

हाय रे, गोरी की नाभि-से भँवर !
पास जाते ही
भँवर ने लील लिया !

वह परियों के महल का
द्वार था !

परियाँ खिलखिला कर
हँसी !
भौंहों के संकेत से कहा,
राजकुमारी से व्याह करो !
परियों की राजकुमारी
नत चितवन
मुसकुरा दी !
उसके जूड़े में
वैसा ही कमल था !
पुरानी ही दुनिया अच्छी,
पुरानी ही दुनिया !

वह सीधा था,
हृदय में दया थी !
झाड़ फूंस की कुटी,
भगवान परीक्षा लेने आए !
भस्म रमाए, झोली लटकाए,—
उन्होंने हाथ फैलाए
भीख माँगी !
मुट्ठी भर अन्न पाकर
चुपके,

वरदान दे गए!

झाड़ पात की कुटी

सोने का महल बन गई !

द्वारपाल चँवर डुला रहे हैं,—

बुढ़िया ब्राह्मणी

नवयुवती बन गई,

शची सा श्रृङ्गार किए है!

पुरानी ही दुनिया अच्छी,

पुरानी ही दुनिया!

एक थी स्त्री, एक था पुरुष,

दोनों प्रेम डोर में बंधे,

सच्चे प्रेमी प्रेमिका थे !

मंदिर के अजिर में पड़े रहते,

'देवी का प्रसाद पाते !

दोनों एक साथ मरे !

मर कर

हरे भरे लंबे

पेड़ बन गए !

अब

दोनों धूपछांह में

आँखमिचौनी खेलते,
दिन भर पत्तो के ओंठ हिला
गुपचुप
बातें करते ।

वसंत मे कोयल पूछती,
कुहू, कुहू,
कौन है, कौन है ?

वरसात मे
पपीहा उत्तर देता,
पिऊ पिऊ,
प्रिय हू, प्रिय हूं !

पुरानी ही दुनिया अच्छी,
सच,
पुरानी ही दुनिया !
—'कला और बूढा चांद' से

परिशिष्ट—१

श्री सुमित्रानंदन पंत की जीवन-क्रमणिका

१६०० (२० मई)	—जन्म, कौसानी (अल्मोडा ज़िला)।
१६११	—अल्मोडा नगर मे पढने आए।
१६१८	—जयनारायण हाई स्कूल, बनारस मे भरती हुए।
१६१६ जून	—स्कूल लीविंग की परीक्षा द्वितीय श्रेणी मे पास की।
१६१६ जुलाई	—म्योर सेंट्रल कालेज, इलाहाबाद मे भरती हुए; हिंदू बोर्डिंग हाउस, इलाहाबाद मे रहने लगे।
१६२१ फरवरी	—असहयोग आंदोलन मे पढाई छोड दी।
१६२६ तक	—मुख्यतया प्रयाग मे रहकर स्वाध्याय एव काव्य-रचना; 'पल्लव', 'वीणा', 'ग्रंथि' का प्रकाशन।
१६२६	—'असगर' गोंडवी की सहायता से मूल फारसी से 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद।
१६२६ जून	—अस्वस्थता के कारण छः महीने भरतपुर मे रहे।
१६३०	—स्वास्थ्य-लाभ के लिए अल्मोडा मे रहे।
१६३१-'४०	—मुख्यतया कालाकांकर (प्रतापगढ) मे रहकर स्वाध्याय, चिंतन, 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना', 'युग-वाणी', 'ग्राम्या' का प्रकाशन।
१६३७	—कुंवर सुरेशसिंह के सह-सपादकत्व मे 'कुमार' बालोपयोगी पत्र का प्रकाशन।

१९३८	—श्री नरेन्द्र शर्मा के सह-संपादकत्व मे 'रूपाभ' मासिकपत्र का प्रकाशन।
१९३९-'४०	—प्रायः प्रयाग में निवास, श्री रामप्रताप बहादुर और श्री नरेन्द्र शर्मा के साथ।
१९४१	—स्वतत्र रूप से ८-ए, बेली रोड (वसुधा), प्रयाग मे निवास, बच्चन के साथ।
१९४२-'४३	—७-ए, बैंक रोड, प्रयाग मे बच्चन-परिवार के साथ निवास। लोकायतन सांस्कृतिक संस्था की योजना बनाई।
१९४३-'४४	—कल्चर सेंटर, अलमोड़ा, में उदयशंकर के साथ कार्य, प्रदर्शन यात्रा; दिल्ली मे टाइफायड की बीमारी।
१९४५-'४७ (अप्रैल)	—दक्षिण भारत मे। छः महीने मद्रास में उदयशंकर के नृत्य-चित्र 'कल्पना' के साथ सहयोग; तदनतर भ्रमण तथा श्री अरविंद आश्रम, पांडीचेरी, मे निवास; 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' की कविताओं की रचना।
१९४७ मई-जून	—श्री नरेंद्र शर्मा के साथ गांधी भुवन, शिवाजी पार्क, बम्बई मे उनके विवाह के अवसर पर निवास।
१९४७-'४८	—बच्चन-परिवार के साथ, एडेल्फी, बंद रोड, इलाहाबाद में निवास; 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'मधुज्वाल' का प्रकाशन; गांधी-श्रद्धांजलि संबंधी कविताओ की रचना; लोकायतन की योजना को सक्रिय रूप देने का प्रयास।
१९४८-'४९	—६, बेली रोड, इलाहाबाद, पर श्री कृष्णानंद पाडे के साथ निवास; 'उत्तरा' का प्रकाशन।

१९५०-'५७ —आल इंडिया रेडियो में हिंदी चीफ प्रोड्यूसर मुख्यालय इलाहाबाद; 'रजत शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण', 'अतिमा' का प्रकाशन।

१९५८ से —आल इंडिया रेडियो के हिंदी परामर्शदाता; प्रयाग में स्थायी रूप से निवास, पता १८/७, बी, स्टेनली रोड, इलाहाबाद। नवीनतम प्रकाशन, 'वाणी', 'कला और बूढ़ा चांद'।

परिशिष्ट—२

श्री सुमित्रानंदन पंत की रचनाएँ

(प्रथम प्रकाशन)

उच्छ्वास (१९२२)	—खानगी तौर से अजमेर मे छपाया गया।
पल्लव (१९२६)	—इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
वीणा (१९२७)	—इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
ग्रंथि (१९२९)	—इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
गुंजन (१९३२)	—भारती भंडार, बनारस।
ज्योत्स्ना (१९३४)	—गंगा ग्रंथागार, लखनऊ।
युगांत (१९३६)	—इंद्रा प्रिंटिंग वर्क्स, अलमोड़ा।
पाँच कहानियाँ (१९३६)	—भारती भंडार, इलाहाबाद।
युगवाणी (१९३९)	—भारती भंडार, इलाहाबाद।
ग्राम्या (१९४०)	—भारती भंडार, इलाहाबाद।
स्वर्णकिरण (१९४७)	—भारती भंडार, इलाहाबाद।
स्वर्णधूलि (१९४७)	—भारती भंडार, इलाहाबाद।
मधुज्वाल (१९४८)	—भारती भंडार, इलाहाबाद।
खादी के फूल (१९४८)	—भारती भंडार, इलाहाबाद (सह-लेखक—बच्चन)।
युगपथ (१९४९)	—भारती भंडार, इलाहाबाद ('युगांत' और 'खादी के फूल' की रचनाएँ सम्मिलित)।

उत्तरा (१९४९) —भारती भंडार, इलाहाबाद।
रजत शिखर (१९५१) —भारती भंडार, इलाहाबाद।
शिल्पी (१९५२) —सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
गद्यपथ (१९५३) —साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।
अतिमा (१९५५) —भारती भंडार, इलाहाबाद।
सौवर्ण (१९५७) —भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
वाणी (१९५८) —भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
कला और बूढ़ा चाँद (१९५९) —राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
साठ वर्ष : एक रेखांकन (१९६०) —राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

संकलन

पल्लविनी (१९४०) —भारती भंडार, इलाहाबाद।
आधुनिक कवि (२) (१९४१) —हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
कविश्री (सुमित्रानंदन पंत) (१९५५) —साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी)।
रश्मिबंध (१९५८) —राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
चिदंबरा (१९५९) —राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

परिशिष्ट—३

श्री सुमित्रानंदन पंत के जीवन और काव्य पर कुछ पुस्तकें

(क) पूर्णांत:

पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	प्रथम संस्करण
सुमित्रानंदन पंत	नगेन्द्र	साहित्य रत्न भंडार, आगरा	१९३८
ज्योति विहग	शांतिप्रिय द्विवेदी	हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग	१९५१
सुमित्रानंदन पंत	विश्वंभर 'मानव'	किताब महल, इलाहाबाद	१९५१
सुमित्रानंदन पंत	रामरतन भटनागर	युनिवर्सल प्रेस, इलाहाबाद	१९५१
सुमित्रानंदन पंत	संपादिका— शचीरानी गुर्टू	आत्माराम एंड संस, दिल्ली	१९५१

[पंत का व्यक्तित्व : एक रेखाचित्र—शिवचंद्र नागर; सुमित्रानंदन पंत—नरेंद्र शर्मा; हिंदी के युगप्रवर्तक कवि पंत—राहुल सांकृत्यायन; पंत की बहुमुखी साधना—विनय मोहन शर्मा; पंत और प्रकृति—'मानव'; मुक्ति और बंधन पर पंत के विचार—कन्हैयालाल सहल; पंत की रचनाओं के तीन युग—गोपालकृष्ण कौल; पंत की एकांकी कला—रामचरण महेंद्र; पंत का भाव-जगत—डा० देवराज; छायावाद, रहस्यवाद और पंत—विश्वंभर 'मानव'; हिंदी काव्य में नवारंभ : पंत का स्वर्णकाव्य—डा० सत्येन्द्र; गुंजन : एक परिचय—कृष्णकुमार सिनहा; गुंजन की दार्शनिक पृष्ठभूमि—रघुवंश नारायण; ग्राम्या : एक परिचय—शमशेर बहादुर सिंह; पंत का युगांत—शांतिप्रिय द्विवेदी; पंत का मानववाद—दि० के० वेडेकर; पंत का नवीन जीवन-दर्शन—डा० नगेन्द्र; स्वर्णकिरण और स्वर्णधूलि—

डा० रामविलास शर्मा, उत्तरा मे पंत का अध्यात्मवाद—विजयेन्द्र स्नातक, श्री सुमित्रानन्दन पंत—बच्चन; पंत और शैली—शचीरानी गुर्टू]

पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	प्रथम संस्करण
पंत जी का नूतन काव्य दर्शन	विश्वंभरनाथ उपाध्याय	साहित्य रत्न भंडार, आगरा	१९५६
पंत का काव्य और युग	यशदेव 'शल्य'	किताब महल, इलाहाबाद	१९५८
कवियो मे सौम्य संत	बच्चन	राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली	१९६०
श्री सुमित्रानंदन पंत : मित्रो की दृष्टि मे		राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	१९६०

(ख) अंशत:

प्रबन्ध पद्म (पंत जी और पल्लव)	सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'	गंगा ग्रंथागार, लखनऊ	१९३४
हिंदी गीति काव्य (सुमित्रानंदन पंत)	ओमप्रकाश अग्रवाल	साहित्य भवन, प्रयाग	१९४५
साहित्यानुशीलन सुमित्रानंदन पंत : 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'	शिवदानसिंह चौहान	आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली	१९५५
पथ के साथी (श्री सुमित्रानंदन पंत)	महादेवी वर्मा	भारती भंडार, इलाहाबाद	१९५६
अध्ययन और आस्वाद (पंत जी की उत्तरा का युगसंदेश)	गुलाबराय	आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली	१९५७

अध्ययन और आलोचना (पंत जी की काव्य चेतना)	रामरतन भटनागर	साहित्य सदन, देहरादून	१९५७
पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त (विचारक कवि पंत)	रामधारीसिंह 'दिनकर'	उदयाचल, पटना	१९५८
हिन्दी साहित्य : बीसवी सदी	नन्ददुलारे वाजपेयी	इडियन प्रेस, प्रयाग	१९४२
छायावाद	नामवर सिंह	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९५५
छायावाद युग	शंभूनाथ सिंह	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी	१९५६